ओरछेश स्मृति ग्रन्थ

ओरछेश-स्मृति-ग्रन्थ

[स्वर्गीय महाराजा श्री वीरसिंह जूदेव के विषय में संस्मरण]

ओरछेश–स्मृति-ग्रन्थ

[स्वर्गीय महाराजा श्री वीरसिंह जू देव के विषय में संस्मरण]

सम्पादक

बनारसीदास चतुर्वेदी

सहायक

यशपाल जैन

प्रकाशचन्द्र चतुर्वेदी
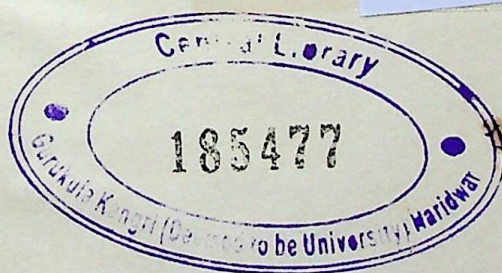
प्राप्य-स्थल

बनारसीदास चतुर्वेदी

मुहल्ला चौबान, फीरोजाबाद (आगरा)

प्रथम संस्करण १९७९

मूल्य : दस रुपये

मुद्रक : प्रिन्ट्समैन, पायचौकी, आगरा

चार शब्द

महाराजा श्री वीरसिंह जू देव, 'ओरछेश' के स्वर्गवास के बाईस वर्ष बाद उनका यह साहित्यिक श्राद्ध हो रहा है और ऋण परिशोध की भावना ही इसके मूल में है।

महाराजा साहब ने अपने जीवन में अभिनन्दन ग्रन्थ लेना सर्वथा अस्वीकार कर दिया था और बड़ी मुश्किल से वे एक हस्त-लिखित ग्रन्थ लेने को तैयार हुए थे। उसी ग्रन्थ के कुछ लेख तथा कुछ नवीन लेख भी इसमें शामिल कर दिए गए हैं।

महाराजा साहब ने मुझसे स्वयं स्पष्टतया कह दिया था—"चौबे जी, आप मेरे ऋणी नहीं, बुन्देलखण्ड के ऋणी हैं। मैं तो कोषाध्यक्ष मात्र हूँ।" तदनुसार यह ग्रन्थ बुन्देलखण्ड को ही समर्पित किया गया है।

आर्थिक कठिनाई के कारण पुस्तक की थोड़ी ही प्रतियाँ छपाई जा सकीं।

जिन्होंने इस पुस्तक के तैयार करने या छपाने में मदद दी है उनके प्रति मैं अपनी कृतज्ञता प्रगट करता हूँ।

बनारसीदास चतुर्वेदी

फीरोजाबाद (आगरा)
२६ जनवरी, १९७९

महाराज श्री वीरसिंह जू देव

सूचिका

भूमिका

लेखक : श्रीनारायण चतुर्वेदी

भाई बनारसीदास जी चतुर्वेदी का एक पत्र मिला जिसके कुछ अंश ये थे—

"लीजिये आपके आदेश का पालन कर दिया।

ओरछेश ग्रंथ करीब-करीब तैयार हो चुका है। लोग बिल्कुल भूल चुके हैं। टीकमगढ़ और वहाँ की जनता ने भी उनकी स्मृति रक्षार्थ कुछ नहीं किया।

इस ग्रन्थ में कुछ पैसा मेरा लगा है। शेष एक अन्य सज्जन का, जो अपना नाम प्रकट नहीं करना चाहते।

\+ + + + +

भूमिका आपको ही लिखनी है

किसी महाराज के बारे में आजकल कुछ लिखना **धारा के सर्वथा विपरीत है।**"

अवश्य ही मैं इस आरोप को स्वीकार करता हूँ कि मैं कई वर्षों से उन्हें ओरछेश के स्मृति ग्रंथ निकालने को बार-बार लिखता रहा। इसका कारण यह था कि भाई बनारसीदास जी को मैं 'अभिनंदन ग्रंथ सम्पादकाचार्य' कहता हूँ। उन्होंने कितने महापुरुषों के अभिनंदन ग्रंथों का सम्पादन किया है, उनकी ठीक-ठीक गणना करना भी मेरे लिए कठिन है। फिर वे शहीदों के स्मृति रक्षार्थ पुस्तकें निकालने में जुट गये जो वास्तव में 'स्मृति ग्रंथ' हैं। उनका ओरछेश से इतना दीर्घकालीन और इतना घनिष्ट सम्बन्ध रहा कि मेरी समझ में उन ऐसे अभिनन्दन और स्मृति-ग्रंथों के विशेषज्ञ सम्पादक का ओरछेश का स्मृति ग्रंथ निकालना आवश्यक ही नहीं, कर्तव्य भी है। इस कार्य के लिए सबसे अधिक उपयुक्त व्यक्ति वे ही हैं। इसीलिए उन्होंने मेरे उलाहने को 'आदेश' की संज्ञा दी है। वे मुझसे एक दो नहीं, पूरे आठ मास बड़े हैं। भला, मेरा ऐसा दकियानूसी व्यक्ति अपने से ज्येष्ठ व्यक्ति को 'आदेश' देने की धृष्टता कर सकता है!

मैं भूमिका लिखने की कला नहीं जानता। इसलिए मैं भरसक इस अनावश्यक औपचारिक कार्य से बचता हूँ। कभी-कभी नये लेखकों के आग्रह पर उनके उत्साह वर्द्धन करने के लिए भूमिका लिख भी देता हूँ। किन्तु भाई बनारसीदास जी ऐसे महान

साहित्यकार के द्वारा सम्पादित ग्रन्थ की भूमिका लिखना मुझे धृष्टता मालूम होती है, और मैं शायद उनका आग्रह स्वीकार न करता।

किन्तु उनके अंतिम वाक्य "किसी महाराज के बारे में आजकल कुछ लिखना **समय की धारा के सर्वथा विपरीत है**", मुझे एक चुनौती मालूम हुई। यह विद्रोह का युग है और विद्रोह केवल परम्पराओं का ही नहीं, वर्तमान ऐसी धाराओं का भी किया जा सकता है जिसे कोई व्यक्ति उचित न समझे। उनके इस वाक्य से मेरे मस्तिष्क में अशोक, हर्ष, विक्रमादित्य, भोज, छत्रपति शिवाजी, महाराना प्रताप, अकबर, सवाई जयसिंह, महाराज रंजीत सिंह, पूजनीया माता अहिल्यावाई, विश्वनाथ सिंह जी देव से लेकर आधुनिक युग के बड़ौदा नरेश सयाजीराव गायकवाड़ तक के अनेक नरेशों के नाम घूम गये। इनका गुणगान यदि समय की धारा के विपरीत है तो मेरे ऐसे व्यक्ति का कर्तव्य है कि इसका विरोध करे। मैं जानता हूँ कि राजाओं में कुछ महान हुए हैं, कुछ सामान्य और कुछ प्रायः दुर्गुणी। इन सबको एक डंडे से हाँकना मेरी बुद्धि स्वीकार नहीं करती। विवेक का उपयोग करके उनमें जो प्रशंसा कें योग्य हैं उनकी प्रशंसा न करना मेरी तुच्छ बुद्धि से अनुचित होगा। हम हिन्दी वाले यदि उन नरेशों जैसे सर सयाजी राव गायकवाड़, महाराज विश्वनाथ सिंह, केशव के आश्रयदाता वीरसिंह देव और अंतिम ओरछेश की हिन्दी सेवाओं के प्रति कृतज्ञता व्यक्त नहीं करते तो अकृतज्ञता के दोषी होंगे।

इसी समय की धारा के कारण आज कितने ही कवि और लेखक 'साहिबे-वक्त' नेताओं का गुणगान कर पुराने युग के भाटों का अनुकरण कर तरह-तरह से स्वार्थ सिद्ध करते हैं। इस अस्वस्थ प्रवृत्ति का विरोध समय की धारा क्यों नहीं करती। मेरा तात्पर्य महात्मा जी, लोकमान्य या पंजाब केसरी, बाबू राजेन्द्र प्रसाद जैसे महापुरुषों से नहीं है, किन्तु उन तथाकथित लघु आकार के नेताओं से है जिन्हें इतिहासरूपी महाकाल शीघ्र ही विस्मृति के गर्भ में विलीन कर देगा।

इसी कारण मैंने अनधिकारी होते हुए भी भाई बनारसीदास जी का आदेश स्वीकार कर लिया।

ओरछा नरेश महाराज वीरसिंह जू देव से मेरी केवल एक बार भेंट हुई, और वह भी एक सम्मेलन में जो ओरछा में हुआ था। मैं उनके निकट ही बैठा था। सम्मेलन समाप्त होने पर वे मुझे आग्रहपूर्वक अपने कमरे में ले गये थे। कितने ही बड़े आई० सी० एस० अधिकारियों के ड्राइंग रूम मैंने देखे थे। उनको देखते हुए वह अत्यंत साधारण मालूम होता था। मैं उनके साथ प्रायः आध घण्टे हिन्दी, ब्रजभाषा और आधुनिक काव्य और साहित्य की चर्चा करता रहा। उनके विस्तृत ज्ञान और सुलझे हुए विचारों से मैं बहुत प्रभावित हुआ। रात अधिक हो गयी थी और यद्यपि महाराज ने किसी प्रकार इस भेंट को समाप्त करने का कोई इशारा भी नहीं किया था, तथापि मैं ही यह सोचकर कि मैं इतनी रात में इन्हें विश्राम करने से वंचित

कर अन्याय कर रहा हूँ, उनसे विदा लेकर चला आया। अपनी आभिजात्य शिष्टतावश महाराज होते हुए भी वे मुझे द्वार तक पहुँचाने आये और विदा होते समय उन्होंने बड़ी विनम्रता से हाथ जोड़कर मुझे प्रणाम किया।

किन्तु इसके पूर्व मैं अपने मित्रों, श्री मैथिलीशरण जी गुप्त, श्री वृन्दावन लाल जी वर्मा, श्री मुंशी अजमेरी जी तथा श्री कृष्णानंद गुप्त से महाराज के हिन्दी और हिन्दी (विशेषकर ब्रज और बुन्देली) काव्य के अनन्य प्रेम की ही नहीं, उनकी उदारता और विशालहृदयता की अनेक बातें सुन चुका था। उस अल्प भेंट में मुझे सुनी हुई बातों की पुष्टि ही नहीं हुई, साथ ही उनके व्यक्तित्व की सरलता, सरसता और सहृदयता तथा उनके हिन्दी ज्ञान के विस्तार की झलक भी मिल गयी। तब तक भाई बनारसीदास जी से मेरी विशेष घनिष्टता नहीं हुई थी। मैं उनसे केवल परिचित था। वे अपने समाज (चतुर्वेदी) से प्रायः दूर रहते हैं। मेरा जन्म इटावे के बदनाम छिपैटी मोहल्ले में हुआ था। मेरा बचपन वहीं बीता और बाद में भी मैं वहाँ आता जाता रहा। बनारसीदास जी की ननिहाल और ससुराल दोनों उसी मौहल्ले में हैं, किन्तु मुझे याद नहीं पड़ता कि वे कभी वहाँ गये हों। उनका प्रयाग के 'लीडर' के सम्पादक श्री सी० वाई० चिन्तामणि और प्रबंधक श्री कृष्णाराम मेहता से बड़ा घनिष्ट सम्बन्ध था। वे कभी-कभी उनसे प्रयाग मिलने जाते थे। किन्तु मेरे पूज्य पिता जी से कभी मिलने नहीं आये। आरम्भ में उन पर आर्य समाज का प्रभाव था। ढलते जीवन में बनारसीदास जी वामपंथी हो गये और रूस के भक्त हो गये, इसलिए उन्हें रूस यात्रा की सुविधा मिली। मेरा परिवार सनातन धर्मी है। शायद इसी मतभेद के कारण उन्हें हमारे पूज्य पिता जी से मिलने में संकोच होता था। जब मैं दिल्ली में आकाशवाणी का उप महानिदेशक होकर गया और वे राज्य सभा के सदस्य हुए तब मेरा उनका सम्पर्क हुआ जो घनिष्टता में परिणत हो गया। तब उनके गुण-दोषों का निकट से देखने का मुझे अवसर मिला। वे शिष्ट, ईमानदार और एक सीमा तक सहिष्णु और बड़े समन्वयवादी हैं। विचारों के मतभेदों को व्यक्तिगत सम्बन्धों में आड़े नहीं आने देते। उनमें इतना ऊँचा हास्यवोध है कि यदि उन पर भी व्यंग्य किया जाय तो नाराज होने के बदले वे उसका मजा लेते हैं। वे साधारणतः राज्य सभा की बैठकों में बहुत कम जाते थे। इस पर मैंने एक दोहा लिखा—

संसद में पशु बहुत हैं, सिंह, भेड़िया, स्यार।
पै बनारसीदास हैं अजगर के औतार॥

इसे सुनकर वे बहुत प्रसन्न हुए। मैंने अपनी 'छेड़छाड़' नामक व्यंग्य कविता संग्रह में (प्राइवेट सर्कुलेशन के लिए जिसकी प्रथम बार केवल १५० प्रतियाँ छपायी थीं) उन पर अनेक तीखे व्यंग्य किये थे। औरों पर भी हैं। किन्तु बनारसीदास जी ने उसे इतना पसंद किया कि उसका एक संस्करण सर्वसाधारण के लिए प्रकाशित करने का बार-बार अनुरोध किया। उस समय वे कुण्डेश्वर में थे। उन्होंने यह पुस्तक

महाराज को दिखायी। वह उन्हें इतनी पसन्द आयी कि उन्होंने रख ली। बनारसीदास जी ने मुझे महाराज के लिए एक प्रति भेजने को लिखा। मैंने एक प्रति भेज दी और महाराज को सम्बोधित करते हुए उसमें यह छंद लिख दिया—

हिन्दी शिव काव्य कौ सिंगार व्यंग्य व्यालन सों।
रचि रचि श्रीविनोद रुचि सौं बनायौ है।
ओरछा के बाछा समान वाक्य बानन सों
'छेड़छाड़' रूपी तूणारि ये सजायौ है।
आशा करि मोद पैहें भूप वीरसिंह देव
'हँसिवे ही योग्य' ज्ञानि मन पतियायौ है।
जामें उर शेष ऐसे उरछेश जू के कर
कंज में विनीत उपहार ये पठायौ है।

महाराज में बड़े ऊँचे दर्जे का हास्यबोध भी था। एक बार बनासीदास जी के द्वितीय सुपुत्र डा० रामगोपाल ने उनसे पूछा कि क्या तेंदुआ को पालतू बनाया जा सकता है? उन्होंने बड़े सहज भाव से कहा "बेटे तुम देख नहीं रहे कि तुम्हारे पिता को मैं कितने दिनों से पालतू बनाने का विफल प्रयास कर रहा हूँ। कहीं बघर्रा भी पालतू हो सकता है?"

बनारसीदास जी में अनेक रोग हैं। उनके और रोगों की चर्चा यहाँ न करूँगा, किन्तु उनके प्रोपेगंडा करने और अभिनन्दन ग्रन्थों के सम्पादन के बाहुल्य को मैं रोगों की संज्ञा देता हूँ। हिन्दी में शायद ही दूसरा कोई इतना सफल प्रोपेगेंडिस्ट हो जितने वे हैं। इसीलिए विनोद में उन्हें 'प्रोपगंडाचार्य' कहता हूँ। उन्होंने प्रकाशकों से लेकर महापुरुषों तक के इतने अभिनन्दन और स्मृति ग्रन्थों का सम्पादन किया है और इतने ऐसे ग्रन्थों के सम्पादन मण्डलों में रहे हैं कि मेरे ऐसे एकान्तवासी के लिए उनकी गिनती जानना भी सम्भव नहीं है। जब वे शहीदों के श्राद्ध में जुटे तो उन पर जो अनेक ग्रन्थ निकाले थे वास्तव में 'स्मृति ग्रन्थों' के ही श्रेणी में आते हैं।

उनके इस गुण (या रोग) के कारण मैं उन्हें वर्षों से बराबर उलाहना देता रहा कि वे महाराज वीर सिंह जू देव पर स्मृति ग्रन्थ क्यों, नहीं निकालते। उनके जीवन काल में एक अभिनन्दन ग्रन्थ प्रकाशित करने की योजना बनाई गई थी, किन्तु उन्होंने इसका कड़ा विरोध किया और वह नहीं छपा। किन्तु उनके स्वर्गवास के बाद उनके समान हिन्दीप्रेमी, हिन्दीनिष्ठ, हिन्दी-उन्नायक का स्मृति ग्रन्थ निकालने में मुझे कोई अड़चन नहीं मालूम पड़ी। बनारसीदास जी अभिनन्दन और स्मृति ग्रन्थ विशेषज्ञ होने के अतिरिक्त उनके गुरू ही नहीं, उनके इतने निकट थे कि उनसे अधिक और कोई उपयुक्त व्यक्ति मेरी दृष्टि में इस काम के लिए अन्य कोई नहीं था। मैं उनका आभारी हूँ कि उन्होंने मेरे अनुरोध की रक्षा की। मुझे सात-आठ वर्ष इसके लिए उन्हें बराबर कोंचना पड़ा। 'करत करत अभ्यास के' आदि वाला दोहा सार्थक हो गया।

महाराज वीरसिंह देव ने राज्यारूढ़ होते ही जो पहला आदेश निकाला वह यह था कि राज्य का सारा काम जो बुन्देलखण्ड ऐसे क्षेत्र में भी उर्दू में होता था, तत्काल हिन्दी में करना आरम्भ कर दिया जाय, और उन्होंने इस आदेश का कड़ाई से पालन कराया। उनको हिन्दी से अकृत्रिम प्रेम था—विशेषकर इसके ब्रजभाषा और बुंदेली रूपों से। ब्रजभाषा के उन्नयन के लिए उन्होंने 'देव पुरस्कार' स्थापित किया जो दो हजार रुपये का था, और उस समय का सबसे बड़ा पुरस्कार था। साहित्यकारों और कवियों के लिए वे कल्पवृक्ष थे। सदैव कोई न कोई कवि या लेखक उनका अतिथि रहता। प्रत्येक का वह यथोचित सत्कार और सम्मान करते। मुंशी अजमेरी जी को अपनी कविताएँ प्रकाशित करने के लिए उन्होंने प्रेरित किया और यह भी वचन दिया कि वे स्वयं उनके प्रकाशन का व्यय भार वहन करेंगे। वे काव्य ही नहीं, कला के भी अच्छे पारखी थे और उतने ही उदार भी थे। एक बार जब एक सामान्य युवक चित्रकार अपना एक चित्र लेकर इस आशा से उनके यहाँ गया कि वे उसे खरीद लेंगे, तो महाराज ने उसे अपने अतिथि के रूप में ठहराया, किन्तु चित्र उन्हें पसन्द नहीं आया और उन्होंने उसे खरीदने से इंकार कर दिया। चित्रकार बड़ा निराश हुआ। किन्तु जब वह लौटने लगा तब महाराज ने उसे 'विदाई' में कई सौ रुपये दिये। बाद में इस चित्रकार ने अपने मित्रों से कहा कि यदि महाराज उस चित्र की आधी राशि भी देकर खरीद कर लेते तो मैं सन्तुष्ट हो गया होता। महाराज को चित्र पसन्द नहीं आया। किन्तु वे एक उदीयमान चित्रकार को निरुत्साहित नहीं करना चाहते थे। इसीलिए उन्होंने उसे विदाई में इतनी बड़ी राशि दी।

वे प्रचार से दूर रहते थे। एक बार हिन्दी साहित्य सम्मेलन ने उन्हें अपने एक अधिवेशन का सभापति बनाने का प्रस्ताव किया। स्वयं श्री मैथिलीशरण गुप्त इस प्रस्ताव को लेकर उनके पास गये। किन्तु उन्होंने बड़ी विनम्रता किन्तु दृढ़ता से उस सम्मान को स्वीकार नहीं किया।

हिन्दी के ऐसे महान उन्नायक और योग्य सेवक को विस्मृत कर देने पर हम हिन्दी वालों पर अकृतज्ञता का सही आरोप लगाया जा सकता है। वे एक नरेश भी थे, इसीलिए उनकी हिन्दी सेवाओं पर हरताल फेर दी जाय, यह तर्क मेरे गले नहीं उतरता। इसीलिए मैं भाई बनारसीदास जी का अत्यन्त कृतज्ञ हूँ कि उन्होंने इस स्मृति ग्रन्थ को निकाल कर हम हिन्दी वालों को एक आरोप से ही नहीं बचाया, प्रत्युत ओरछेश जैसे महान व्यक्ति का इस ग्रन्थ द्वारा साहित्यिक श्राद्ध कर पुण्य भी अर्जित किया।

एक घटना का वर्णन कर मैं इस तथाकथित भूमिका को जो भाई साहब के आदेश पर बड़े संकोच के साथ लिखी गयी है, समाप्त करता हूँ। एक वर्ष देव पुरस्कार स्वर्गीय श्री हरदयालु सिंह को उनके प्रसिद्ध 'दैत्यवंश' काव्य के लिए मिला, किन्तु वे किसी विवशता के कारण उसे लेने टीकमगढ़ न जा सके। अतएव पुरस्कार की राशि हिन्दी साहित्य सम्मेलन को भेज दी गयी जो एक समारोह में राजर्षि पुरुषोत्तम दास

जी के कर कमलों से दिये जाने को थी। मैं भी उस समारोह में उपस्थित था। मैंने हरदयालु सिंह जी को बुलाकर कहा कि अपना कृतज्ञताज्ञापन कविता में करना। वे बोले "मैंने तो कुछ लिखा नहीं।" मैंने कहा कि "क्या तुम्हारी कविता कुंठित हो गयी है? यह लो कागज और पैंसिल और अभी दो छन्द लिख डालिये।" हरदयालु सिंह जी पर मेरा इतना रोब था कि उनके सामने कोई विकल्प नहीं था। उन्होंने तत्काल छन्द लिखे जो पुरस्कार प्राप्ति के बाद कृतज्ञताज्ञापन के रूप में उन्होंने पढ़े। वे छन्द ये थे—

आधिक आयु के वर्ष गये
अब तो भलौ भाग उदै भयौ मेरौ।
कीन्हीं अपार कृपा हम पै
जबै श्री पुरुषोत्तम मो तन हेरौ।
दै अपने कर कंजन सौं
उपहार श्री उरछाधिप केरौ।
या मिस साहित-सेवक कौ
उपकार है आपने कीन्हौ घनेरौ।
ओरछाधीश की कीरति चारु
दिगंतन लौं यहि भाँति सौ छायी।
केशव सी जिन कल्पलता
निज दान के वारि सों सींचि बढ़ाई।
देत हजारन के उपहार
कहें उपकार अपार सहाई।
हैं सुर-पादव मंजु कवीन के
दारिद छन्द हैं देत भगाई।

———

५३, खुर्शेद बाग
लखनऊ-४.

१
एक पुण्य कथा

श्री वियोगी हरि

स्व० श्रीमती कमलकुमारी देवी ने मेरी डगमगातो धर्म-श्रद्धा को सहारा दिया था, जिनके पवित्र वात्सल्य ने जीवन के अँधेरे मरु-देश में भटक जाने से मुझे बचाया था, जिनका धुँधला-सा ध्यान आज भी मेरे स्वप्न-उद्यान को हरा कर देता है, उन धर्ममाता की संक्षिप्त पुण्यकथा मैं इस लेख में दूंगा।

छतरपुर-नरेश महाराजा विश्वनाथ सिंह जी की यह पहली पत्नी और ओरछा के महाराजा प्रतापसिंह जी की ज्येष्ठ पुत्री थीं। अनेक सुसंस्कार इन्होंने अपनी साध्वी माता जी से पाये थे। त्याग तथा तप की दीक्षा माता ने ही इन्हें दी थी। पति के साथ सांसारिक सम्बन्ध नहीं बना। जीवन भर विरागिनी ही रहीं; सत्संग, धर्म-ग्रन्थों का जीवन-क्रम रहा। सत्संग करते-करते धर्म-तत्व का खासा अच्छा ज्ञान भी उन्हें हो गया था। सैकड़ों श्लोक और पद कंठाग्र थे। चारों वैष्णव सम्प्रदायों से तो निकट का सम्बन्ध था ही, शैव सिद्धान्त का भी अच्छा ज्ञान था। राम, कृष्ण और शिव तीनों ही उनके उपास्य देव थे।

उनका जीवन एक निश्चित क्रम से चलता था। जो क्रम एक बार बना लिया, उस पर अन्त तक दृढ़ रहीं। दस-दस, पन्द्रह-पन्द्रह दिन के कितने ही कठिन उपवास किये थे। उपवास का भंग कभी बीमारी में भी नहीं किया। स्नान, पूजन, सत्संग आदि कार्य उपवास के दिनों में भी ज्यों-का-त्यों चलता था। शरीर में स्फूर्ति, मुख पर तेज और मन में प्रसन्नता उन दिनों भी मैंने वैसी ही देखी। तप:साधनाओं में अनेक विघ्न-बाधाएँ आईं, बड़ी-बड़ी यंत्रणाएँ भी पाईं, पर सब क्लेशों को हँसते-हँसते ही सहन किया। उनकी धर्म-श्रद्धा दिन-दिन ज्वलन्त ही होती गई। उनकी जैसी कठिन साधना मेरे देखने में तो अन्यत्र नहीं आई।

मेरी धर्ममाता ने अनेक तीर्थ-यात्राएँ की थीं। सर्व साधन सुलभ होते हुए भी बहुधा रेल के तीसरे दर्जे में ही मुसाफिरी करती थीं। पैदल भी खूब चलती थीं। ब्रह्म-गिरि की उनकी वह कठिन यात्रा मुझे आज भी याद आ रही है। जेठ का महीना था। पर्वत की बड़ी-बड़ी शिलाएँ तवे की तरह तप्त हो गई थीं। पूजा समाप्त कर ठीक बारह बजे प्रदक्षिणा देने के लिए चल दीं। उस दिन उनका एकादशी का निर्जल व्रत भी था। पैरों में चप्पल भी नहीं पहनी थीं। वृद्धा नौकरानी ने भी उनका

थोड़ी दूर तक अनुगमन किया, पर चल नहीं सकी ! दयार्द्र होकर अपनी साड़ी से धज्जियाँ चीर कर उसके पैरों पर लपेट दीं, पर खुद नंगे पैरों ही ब्रह्मगिरि की दो-ढाई कोस की प्रदक्षिणा जेठ की दुपहरी में बिना विश्राम लिये, राम-राम जपते हुए, पूरी की। चित्रकूट के कामगिरि की परिक्रमा तो उन्होंने एक ही दिन में दो-दो, तीन-तीन बार की थी। तिरुपति बालाजी के ऊँचे शिखर पर भी पैदल ही चढ़ी थीं, संगी-साथियों को डोली पर भेज दिया था। बद्रीनाथ की यात्रा में मैं साथ नहीं था, पर मैंने सुना था कि ठेठ सतोपथ तक पैदल ही गयी थीं।

यात्राओं के ऐसे कितने ही संस्मरण हैं, जो एक-एक करके याद आ रहे हैं। उनमें से दो संस्मरण मैं यहाँ दे रहा हूँ :

जहाँ तक मुझे याद है, पहला १९२० का प्रसंग है। मकर सक्रांति का पर्व-स्नान करने हम लोग गंगा सागर जा रहे थे। शाम को मामूली-सा तूफान आ जाने से हमारे जहाज का लंगर डाल दिया गया था। थोड़ी देर बाद समुद्र स्थिर हो गया। चांद निकल आया। चारों ओर जैसे दूध का फेन-ही-फेन नजर आता था। ऐसा सुन्दर धवल दृश्य मैंने पहली ही बार अपने जीवन में देखा था। सागर का वक्षःस्थल तो शांत था, किन्तु मां का वात्सल्य उमड़ रहा था। जहाज की छत पर रात को कोई एक बजे उन्होंने मुझे बड़े स्नेह से भक्ति-मार्ग का उपदेश दिया। मैं मंत्र-मुग्धवत उनके दिव्य प्रवचन को सुनता रहा। अन्त में जब 'विनय पत्रिका' का 'हरि तुम बहुत अनुग्रह कीन्हों' यह पद मधुर सुर से गाया, तब उनकी भक्ति-विह्वलता को देखकर एक क्षण के लिए मैं अपने आपको भूल गया। मैंने प्रत्यक्ष देखा कि उस समय उन्हें देह का कुछ भी भान नहीं था। आँखों से प्रेमाश्रु बह रहे थे। मुख पर एक अपूर्व तेज झलक रहा था। मैं चरणों पर गिर पड़ा। चेतना आने पर माँ मेरे सिर पर हाथ फेरने लगीं। जीवन में उन स्वर्गीय क्षणों को मैं कभी भूलने का नहीं। पर मैं ठहरा अभागा। मेरी उस अबोध अवस्था में उन्होंने मुझे जो अनमोल भक्ति-रस दिया, वह मेरे अनेक छिद्रों वाले हृत्पात्र में ठहर न सका।

दूसरा चिरस्मणीय प्रसंग नाथद्वारे का है। हमारे साथ एक बूढ़ी नौकरानी थी। वह प्रायः प्रत्येक तीर्थ-यात्रा में साथ जाती थी। एक दिन इसे जोर का बुखार चढ़ आया। हम सब लोग मन्दिर में दर्शन करने चले गये थे। उसका लड़का कल्लू भी डेरे पर नहीं था। मेरी माँ अधबीच से ही लौट गयीं। किसी से कुछ कहा-सुना नहीं। आध घण्टे बाद मन्दिर से आकर मैं देखता हूँ कि चुपचाप बैठी बीमार बुढ़िया के पैर दबा रही हैं। उस बेचारी को कुछ पता भी नहीं था। बेहोश पड़ी थी। मुझे आश्चर्य-चकित देखकर इशारे से चुप रहने को कहा। मैं एक तरफ वहीं चुपचाप बैठ गया। धीरे से कहने लगीं "बेटा, यह कोई बड़ी बात नहीं है। इस गरीबनी ने तो मेरी बरसों सेवा की है। यह बुढ़िया तो मेरी माँ के समान है। मन्दिर मैं आज इसीलिए नहीं गयीं। सेवा का यह पुण्य-लाभ वहाँ कहाँ मिलता। यह भी तो श्रीनाथ जी की ही आराधना है।" उनकी यह स्तुत्य सेवा-परायणता देखकर गला भर आया।

'जुगलप्रिया' उपनाम से उन्होंने व्रजभाषा में बहुत से सुन्दर पद भी रचे थे, जिनका संग्रह उनके स्वर्गवास के पश्चात् मैंने प्रयाग से 'जुगलप्रिया' पदावली के नाम से प्रकाशित किया था। उसमें से एक पद यहाँ उद्धृत करता हूँ :

नाथ अनाथन की सब जानें।
ठाड़ी द्वार पुकार करति हों,
स्रवन सुनत नहिं, कहा रिसानै ?
की बहु खोटि जान जिय मेरी,
की कछु स्वारथ हित अरगानै ?
दीनबन्धु मनसा के दाता—
गुन औगुन कैधों मन आनै ?
आप एक, हम पतित अनेकन,
यही देखि का मन सकुचानै ?
झूठोहि अपनी नाम धरायौ,
समझि रहे हैं, 'हमहिं सयानै',
तजौ टेक मनमोहन मेरे,
'जुगलप्रिया' दीजै रस-दानै।

मेरी धर्ममाता की साधना, सत्यनिष्ठा, सेवा-परायणता और भक्ति-भावना इतनी ऊँची थी कि उनकी गणना निस्सन्देह पुराकाल के भागवतों में की जा सकती है। मैंने तो उन्हें मीरा बाई का अवतार माना और ऐसा करके मैंने कोई अत्युक्ति नहीं की।

मैंने यह स्तवन किया, तो उनके देहावसान के पश्चात। उनके जीवन-काल में तो सदा सर्वत्र ढिठाई ही की। समीप रहा, और पहचान न पाया। जो मुझे दिया, उसे सम्भाल न सका। अधिकारी तो तृण का सहारा पाकर भी तर जाता है, और एक मैं हूँ, जिसने सामने आई नौका की भी उपेक्षा ही की, बल्कि कभी-कभी तो मैं उस शुभ्रचरिता में दोष भी ढूंढ़ने बैठ जाता था। उस सुशीतल वात्सल्य-सुधा को अंजलि में भरा और अहंकारपूर्वक अनाड़ीपन से सारा टपका दिया, और वही-का-वही तेजाब पीता रहा, जिसने अंतर में आग लगा दी, और वैसा ही प्यासा-का-प्यासा। इतना ही बहुत मानता हूँ कि उस पुण्य-कथा को नहीं भूला और स्मरणमात्र से ही, एक क्षण के लिए ही सही, संताप के बीच भी कुछ-न-कुछ सांत्वना मिल जाया करती है।

२

महाराज श्री वीरसिंह जूदेव 'ओरछेश'

स्वर्गीय श्री वृन्दावनलाल वर्मा

मैं एक बार सन् १९२६ में गढ़कुंडार के लिए पैदल जा रहा था। मार्ग में लँगड़ाते हुए एक हृष्ट-पुष्ट व्यक्ति को देखा। अकस्मात् एक महुए के पेड़ के नीचे दोनों खड़े हो गये। मैंने उस व्यक्ति से उसके लँगड़ाने का कारण पूछा। उसने अपने पैर दिखलाते हुए कहा—"महीनों टीकमगढ़ में हवालात में पड़ा रहा हूँ। ये निशान बेड़ियों और पैकरों के हैं।"

मेरी उत्सुकता नहीं बढ़ी। कुछ समय काटने के लिए और कुछ सहानुभूति-वश मैंने कहा—"किस मुकदमे में यह कठोर दण्ड भुगतना पड़ा?"

"मुकदमे में दण्ड!" उस व्यक्ति ने अचरजके साथ उत्तर दिया, "मुक़दमा तो हुआ ही नहीं। यह तो कच्ची हवालत का भोग भुगता है।"

यह बात श्रीमान् महाराज श्री वीरसिंह जूदेव के राज्यारोहण के पहले की है। १९ वर्ष के पश्चात् इसी ओरछा राज्य में कितना परिवर्तन हुआ! हाल ही में दो मुकदमे गांव के दो दलों पर एक ही घटना के आधार पर चले। एक मुकदमे में एक दल को मैजिस्ट्रेट ने बरी कर दिया, और दूसरे में दूसरे दल को दण्डित कर दिया। राज्य ने दोनों मुकदमों में अपनी ओर से अपनी हाईकोर्ट में अपीलें उपस्थित कर दीं। यदि सन् १९२६-२७ की बात होती तो क्या राज्य इन मुकदमों में मनमानी नहीं कर सकता था? परन्तु राज्य को अपने ही मैजिस्ट्रेट के विरुद्ध अपनी ही हाईकोर्ट में बाहर से वकील बुलाकर अपीलें करानी पड़ीं! इस अन्तर को ध्यान के साथ अध्ययन करने की आवश्यकता है। यह अन्तर किसने उपस्थित किया?

खास टीकमगढ़ का ही एक व्यक्ति बरसों मुकदमा लड़ने के पश्चात् अपना मकान हार गया। प्रतिवादी के उत्तर पर ओरछा की हाईकोर्ट ने निदान न्याय किया कि मकान बिना वारिस के है, इसलिए राज्य उसका स्वामी है।

महाराज ने असली स्वामी को, जो मुकदमा हार गया था, बुलाकर मकान उसके हवाले कर दिया, और बोले—"मेरी हाईकोर्ट से तुम भले ही हार गये हो, परन्तु मेरे न्याय से नहीं हारे! अपना मकान वापिस लो।"

मुझको वन-भ्रमण और शिकार का व्यसन रहा है। बब्बाजू के राज्य-काल में चोरी से खूब शिकार खेला करता था। ओरछा राज्यान्तर्गत माधुरी ग्राम-निवासी लिल्ली जाटव मेरी इस चोरी में प्रायः सहयोग प्रदान किया करता था। एक दिन उसको दाढ़ी मूँछ साफ किये देखा। मैंने पूछा—"लल्ली, यह क्यों करवाया ?"

"बब्बाजू को स्वर्गवास हो गओ ।", लल्ली ने उत्तर दिया—"सो मैंने दाढ़ी-मूँछ मुड़वाई है।"

मैंने उसी दिन से ओरछा राज्य के जङ्गलों में चोरी से शिकार खेलना बन्द कर दिया। क्यों ?

महाराज वीरसिंह देव के उनके सवाई महेन्द्र होने के पहले मैं कभी नहीं मिला था। परन्तु हिन्दी-साहित्य के झरोखे से उन्होंने मुझको देखा था और मैंने उनको। बस उस समय इतना ही परिचय था। इसलिए मैंने सोचा; यदि कभी श्री ......जू देव ने मुझसे कहा – चोरी से शिकार क्यों खेलते हो ? मुझसे पूछ लेते तो क्या मैं तुमको नाहीं कर देता ? उनके इतना ही कह देने पर मेरी आँखें नीची पड़ जायेंगी। बस, इसीलिए बेतवा के उस पार बन्दूक लेकर फिर नहीं गया।

मैंने बब्बाजू के राज्यकाल में छिपे-लुके बहुत सफल शिकार खेली थी, इस कारण मैं अनेक व्यक्तियों के द्वेष का कारण बना। एक व्यक्ति ने सिंहासनारुढ़ होने के पश्चात् महाराजा से कहा—"वर्मा राज्य में बिना आज्ञा के शिकार खेला करता है। कुछ बन्धेज होना चाहिए।"

महाराजा ने अनुसुनी कर दी। उस व्यक्ति ने फिर दुहराया। महाराज ने पूछा—"कौन वर्मा ?"

अपराधी का पूरा नाम तथा पता इत्यादि बतलाया गया।

महाराज हँसे, बोले—"तो क्या वर्माजी ओरछा राज्य के वन-पर्वत भी उठा ले गये ?"

शिकायत करने वाला लज्जित हुआ।

महाराज ने फिर कहा—"उनसे कह देना, नियम बना दिये गये हैं। उनके अनुसार खूब खेलें।"

स्व० मुन्शी अजमेरी के सामने यह बात हुई थी। उन्होंने मुझे यह बात बतलाई थी।

मैं उन दिनों राज्य में शिकार बिलकुल नहीं खेलता था। शिकायत करनेवाला झूठ बोला था। परन्तु महाराज का उत्तर सुनकर मुझको अपनी पुरानी चोरियों का स्मरण हो आया। और मन में मसोस पर मसोस उठी कि कब प्रत्यक्ष होकर किये न किये की उनसे क्षमा माँगूं।

सन् १६३० में महाराज को सवाई महेन्द्र की गद्दी मिली। सन् १६३२ में झाँसी में अखिल भारतीय साहित्य-सम्मेलन हुआ। मैं स्वागतकारिणी समिति का

अध्यक्ष था। रुपये की कमी थी। महाराज से याचना करने की ठान कर टीकमगढ़ चल दिया। पहले भी टीकमगढ़ गया था। बब्बा जू के राज्यकाल में किले के नीचे छाता लगाकर विशेष व्यक्ति ही जा सकते थे और उनके समक्ष साफा बाँधे नंगे पैर जाने की निश्चित रीति थी। महाराज वीरसिंहजू देव ने यह रीति तोड़-फोड़ डाली। मैं कुछ अपने मित्रों के साथ महल में ही मिला। न साफे का बन्धन और न नंगे पाँव की कैद। बड़ी देर तक वार्तालाप हुआ। जो कुछ सुना और देखा उससे हृदय में बहुत स्नेह उत्पन्न हुआ और आदर भी। वह कभी कम नहीं हुआ, बढ़ता ही गया। ओरछा राज्य को अपना और अपने महाराज को अपना कहने का संकल्प हृदय ने भीतर ही भीतर किया। यह संकल्प इन वर्षों में भी कम नहीं हुआ, दृढ़तर ही होता गया, और उनको निरन्तर दृढ़ बनाये रखने में श्री जू देव ने स्वयं बहुत सहायता की।

झाँसी में हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन महाराज की विशेष सहायता के कारण सफलतापूर्वक हो गया। एक पूरी लारी भर तो प्रतिनिधि टीकमगढ़ से ही आये थे।

महाराज के हिन्दी-प्रेम की यह तो एक बहुत ही छोटी सी घटना है। जिस प्रान्त या जिस राज्य के न्यायालयों तथा अन्य शासन विभागों की भाषा और लिपि से भिन्न हो वहाँ के शासकों और शासितों के बीच का व्यवधान कितना बड़ा होता है, यह भुक्तभोगी बहुत अच्छी तरह जानते हैं। बुन्देलखण्ड में सबसे प्रथम महाराज ने इस व्यवधान को मिटाया। महाराज ने विभिन्न विभागों को हिन्दी के जो शब्द दिये वे अब अन्य राज्यों में भी व्यवहृत होने लगे हैं और लोकप्रिय हो गये हैं। हिन्दी के टाइप राइटर में कुछ अक्षर महाराज को खटके। उन्होंने इन अक्षरों के सुधार की ओर ध्यान दिया। कदाचित् बहुत थोड़े लोग इस बात को जानते होंगे कि महाराज बहुत कुशल चित्रकार हैं। उनके बनाये रेखाचित्र इत्यादि इतने सच्चे और सुन्दर हैं कि आश्चर्य होता है। महाराज ने कुछ अक्षरों की आकृति में परिवर्तन किया है। कुछ नितान्त नये सुझाव दिये हैं और अक्षरों के बनाव अपने हाथों तैयार किये हैं। वर्तमान युद्ध के चल पड़ने के कारण हिन्दी टाइप राइटर का सुधार स्थगित करना पड़ा।

महाराज की लिपि सुन्दर है। जिनको महाराज का स्नेह प्राप्त है उनको वह बुन्देलखण्डी बोली में पाती लिखते हैं "तुमाई पाती मिल गई ती पै कछू ऐसी खबर विसरी कै इतने दिना ऊतरइ नई दे पाओ···· ·······पाती लिखने में देर भई सो माफ करवी···········आसा है कि अपुन सकुटुम्ब कुसलपूर्वक हुइऔ।" इत्यादि ऐसे वाक्य हैं जो हृदय पर मीठी खरोंच करते हैं और अपना अक्षय प्रभाव छोड़ जाते हैं। शासन को यथाविधि और भिन्न-भिन्न विभागों में विभक्त कर देने पर भी महाराज कितने जनप्रिय हैं और जनता उनको अपने मन के निकट पाती है, उनकी एक प्रसिद्ध घटना है। चार वर्ष हुये महाराज ने बैलगाड़ी पर राज्य के कौने-कौने का दौरा किया था। जनता उनके पास उमड़ उमड़ कर आई। एक दिन धूल और धूप से परेशान बैल-गाड़ी में बैठे हुए चले जा रहे थे। शिविर थोड़ी दूर था। एक युवक ने पछिया लिया "मोरी विनती सुन लई जाय"—युवक ने कहा।

महाराज बोले "डेरे पर आकर सुनाना।"

युवक पीछे-पीछे चला आया। महाराज के शिविर में पहुँचते ही वह युवक सामने आया और जनता भी—उनमें स्त्री-पुरुष दोनों थे—चारों ओर खड़ी थी।

युवक ने फिर कहा—"मेरी विनती सुन लई जाय।"

महाराज-थके माँदे थे परन्तु उन्होंने उस युवक को अपनी बात कह डालने की अनुमति दी।

युवक बोला—"महाराज, मोरी सगाई तो हो गयी है परन्तु ससरार वारे ब्याह नई करत।"

उस थकावट में भी तुरन्त हँसकर महाराज ने उसको उत्तर दिया—"भैया, मैं तुमाव नाऊ तो हौं सो अवई सुतकरा के लाने तुमाये सुसर लौं जात।"

उपस्थित जनसमूह ने इस परिहासपूर्ण व्यंग को सुना। चारों ओर अट्टहास का तूफ़ान उठ खड़ा हुआ। उस युवक की भी समझ में बात आ गयी और वह इतना झेंपा कि वहीं गड़-सा गया। महाराज ऐसा परिहास और व्यंग करते हैं कि उनकी सब घटनाओं और बातों का संग्रह किया जावे तो एक पुस्तक अलग बन जाय। और हो भी मनोरंजक।

बुन्देलखण्ड में बड़ी-बड़ी रियासतें थोड़ी हैं और छोटी-छोटी रियायतें या जागीरें बहुत। कुछ दिनों से चर्चा उठी है कि इन सबके कुछ शासन विभाग सम कर दिये जायें जिसमें वैषम्य कम से कम हो जावे। धींगामस्ती बन्द हो और जनता स्वतन्त्रता की साँस ले सके। इस विषय के वाद-विवाद के लिए नौगाँव में एक सम्मेलन हुआ।

एक राजा इस प्रकार के आन्दोलन में अपने और दूसरे राजाओं के अधिकारों में घोर क्षति का संकट अनुमान करके बोले—"ओरछा राज्य बुन्देलखण्ड के अन्य राज्यों का अगुवा है। उसको हम सबके हकों की रक्षा करनी चाहिए। हमको अधिकार सन्धियों द्वारा मिले हैं। यह सन्धियाँ पवित्र हैं। इन सन्धियों का रक्षण अत्यन्त आवश्यक है।"

महाराज ने तुरन्त उत्तर दिया—"संधिपत्रों का सबसे अच्छा सत्कार एक एक पैसे के शहद से हो सकता है। लगाते जाइये और ...... जाइये........ ..."*

सब लोग जानते हैं कि राजनीतिक व्यवहार ने सन्धियों की सीमा को कितना संकीर्ण कर दिया है और रियासतों में रहने वाली जनता इन सन्धियों की प्राचीरों के भीतर कितनी ठेस खाती है, इस समस्या का सबसे अच्छा हल महाराज का यह वाक्य करता है—"अपने भूमिखण्ड के लिये, अपनी जनता के लिए पुरखों ने गत काल में सिर कटवाये इसलिये उनका इतना सम्मान हुआ। अब सिर कटवाना और

---

* महाराज ने ऐसे शब्द कहे थे कि उनको उद्धृत करना ठीक न होगा।

रक्तपात की आवश्यकता नहीं है। अपना व्यय सीमित करो और जनता के हाथ में अधिकार सौंप दो। बस, इतना ही त्याग तो करना है। जो चाहें वे जनता का नेतृत्व भी इस नवीन आधार पर कर सकते हैं। सन्धिपत्रों के बल पर वर्तमान युग में नेतृत्व किसी अवस्था में भी नहीं हो सकता।"

महाराज की अभिलाषा है कि बुन्देलखण्ड की समग्र रियासतें शासन के वैषम्य को मिटा कर अपना एकीकरण करें। जनता को सुख पहुँचायें और अपनी स्थिति को इस प्रकार प्रबल नींव पर स्थित करें। परन्तु महाराज की इससे भी बड़ी और बलवती अभिलाषा बुन्देलखण्ड भर के एकीकरण की है। बुन्देलखण्ड इस समय युक्तप्रान्त (उ० प्र०) और मध्यप्रान्त के अंग्रेजी जिलों तथा अनेक भिन्न-भिन्न छोटी-बड़ी रियासतों में बिखरा पड़ा है। भौगोलिक और आर्थिक दृष्टि से जिन्होंने इस प्रश्न की मीमांसा की है वे जानते हैं बुन्देलखण्ड का एकीकरण आवश्यक है। किसी न किसी अच्छे या बुरे कारण ढूँढ़कर बुन्देलखण्डियों की आर्थिक माँगों की संयुक्तप्रान्त तथा मध्यप्रान्त बहुधा अवहेलना करता है और बुन्देलखण्डी रियासतों रजवाड़ों की प्रजा की दुरवस्था का तो ब्यौरा देना ही व्यर्थ है। यदि बिखरे हुए बुन्देलखण्ड का एकीकरण हो जावे, अंग्रेजी जिलों तथा रियासतों को एक ही सूत्र में गूँथ लिया जावे तो भारत माता के गले का यह कैसा शोभा-सम्पन्न हार बने ?

इस उद्देश्य से प्रेरित होकर, इसी कल्पना को सामने रख कर एक अधिवेशन टीकमगढ़ में नवम्बर सन् १९४३ में हुआ था। उसमें महाराज ने जो कुछ कहा था वह उन्हीं के योग्य था। उनके सिद्धान्त का सार है—"बुन्देलखण्ड को एक करने के लिए यदि मुझको राज्य का विसर्जन करना पड़े तो उसके लिए भी प्रस्तुत हूँ।" कहाँ तो इस युग में पुराने सन्धिपत्रों की आशा में उलझे रहने का प्रयत्न करनेवाले अनेक राजा और कहाँ इतना बड़ा त्याग करने का शौर्य रखनेवाले श्री सवाई महेन्द्र !

महाराज ने कई लाख रुपये व्यय करके टीकमगढ़ और कुण्डेश्वर के बीच की भूमि में कृषि फार्म बनाया। नई-नई मशीनें मँगवायीं, और भूमि पर श्रम और विचार खर्च किया। उनका उद्देश्य इस फार्म को सफल बना कर किसानों को बाँट देने का था और आदर्श था इस प्रकार के फार्मों को राज्य भर में फैलाने का; परन्तु फार्म अनेक कारणों से सफल न हो सका। उसका सबसे बड़ा और प्रधान कारण था जल की कमी। परन्तु उन्होंने हार नहीं मानी। मनोवृत्ति ने दूसरा रूप लिया और सुधासागर तैयार होने लगा। इसमें लगभग ५ वर्गमील में जल भरेगा। टीकमगढ़ से दो या ढाई मील पर उससे नहर निकाली जायगी जिससे किसानों को प्रचुर लाभ होगा। जो लोग जानते हैं कि प्रयत्न का त्याग देना ही हार है वह प्रयत्न नहीं छोड़ते, इसलिए कभी नहीं हारते। उनके विचारों से अपरिचित लोगों को यह सुनकर आश्चर्य होगा कि महाराज का आर्थिक सिद्धान्त साम्यवाद है और यही उनका राजनीतिक सिद्धान्त भी है। परन्तु वह जानते हैं कि हाल ही में बीमारी से उठा हुआ निर्बल

मनुष्य प्रत्येक प्रकार का भोजन नहीं पचा सकता इसलिए वह क्रमागत सुधार के पक्ष-पाती हैं। उन्होंने राज्य के किसानों को भूमि और वृक्षों के बेचने इत्यादि का पूर्ण अधिकार दे दिया है परन्तु दूषित जमींदारी प्रथा को अंगीकार नहीं किया है। प्रजा परिषद् भी स्थापित हो गई है जिसमें सदस्य चुनाव के आधार पर प्रवेश पाते हैं।

पुरानी प्रथाओं में से कुछ को बनाये रखने की सम्मति राज्य के कुछ अधिकारियों ने दी थी परन्तु उन्होंने अनुसुनी कर दी।

महाराज कान के इतने पक्के हैं कि कोई किसी की चाहे जितनी शिकायत करे वह दूसरे पक्ष की बात को बिना सुने कभी कोई निर्णय नहीं करते। और स्वजन प्रेम तो उनका इतना प्रबल है कि जिसकी पीठ पर उन्होंने हाथ रखा वह कितनी ही हानि पहुँचावे, प्रतिहिंसा उनमें जाग्रत होती ही नहीं।

कई वर्ष हुए राज्य का एक अधिकारी महाराज का बहुत-सा सामान दबा बैठा और ऊपर के कार्याध्यक्ष ने जाँच-पड़ताल करने के बाद उक्त अधिकारी को पूर्ण दोषी पाया। उसको पदच्युत करना उचित दण्ड निश्चित हुआ। जब वह अधिकारी टीकमगढ़ छोड़ कर जाने लगा, कई गाड़ियों में महाराज का सामान भरकर चला। समाचार देनेवालों ने महाराज को सूचना दी।

महाराज ने कहा—"अब वह राज्य छोड़कर जा ही रहा है, मत छेड़ो।"

सूचना देनेवाले ने हठ किया—"महाराज बहुत सामान लिये जा रहा है। अपनी बड़ी हानि होगी।"

महाराज ने उत्तर दिया—"वह गाड़ियों में कूड़ा-कचरा भरे लिये जा रहा है। ले जाने दो मैं उसमें हाथ नहीं डालूँगा।"

सूचना देनेवाले ने हठ नहीं छोड़ा, परन्तु महाराज ने भी अपनी बात नहीं छोड़ी—बोले—"ओरछा राज्य की भूमि तो नहीं लिये जा रहा है?"

मैंने झाँसी फार्म पर बहुत काफी ठेस खाई। परन्तु भूमि को तोड़ने का मोह नहीं छूटा। इसलिए ओरछा राज्य में कुंडार के निकट भूमि ली। उस पर काफी घना जाल खड़ा था। कुंडार के निकट का स्थान सुन्दर होने के कारण मैंने जंगल के मध्य में एक टीले के ऊपर फूस की एक झोंपड़ी बनाई, कुछ अपने हाथ से कुछ मज-दूरों की सहायता से। झोपड़ी के आधे भाग के लिए पड़ोस के एक गाँव से थोड़े से खपरे मिल गये। इस झोपड़ी पर चाय पानी के लिए महाराज को निमन्त्रित किया। वह मेरे मित्र कर्नल सज्जन सिंह प्रधान मन्त्री सहित पधारे।

टीले के नीचे जिस पर झोपड़ी है, एक आम का पेड़ है। आम के पेड़ के चारों ओर गोल नाली खुदवा कर पेड़ के तने पर चढ़ा दी गई थी। और उस मिट्टी पर गेंदे के फूलों से शुभागमन सजाया गया। महाराज के आने के कारण इधर-उधर की जनता की भीड़ भी वहाँ आ गयी थी। इस भीड़ ने उस आम के पेड़ को घेर लिया और वह शुभागमन दिखलाई नहीं पड़ रहा था। मैंने तो कुछ नहीं किया, परन्तु

ठाकुर साहब को वह खटका। वह मेरे इस बहुत छोटे फार्म को भी महत्व देना चाहते थे। महाराज चाय पी रहे थे। मैंने वहीं विलायती मटर और टमाटर की खेती की थी। मटर उनके सामने रखी थी। और कुछ गाँठ में नहीं था, जिसे अपने इन बड़े मेहमान के सामने पेश करता। वह स्नेह के साथ मटर खाते जा रहे थे और बातें करते जाते थे। ठाकुर साहब ने महाराज का ध्यान आकृष्ट किया—"देखिये वर्माजी ने इस आम पर कैसी अच्छी मिट्टी चढ़ाई है।" महाराज का ध्यान आकृष्ट नहीं हुआ परन्तु ठाकुर साहब मानने वाले न थे। उन्होंने भीड़ को हटा कर फिर महाराज से कहा—"देखिये इस पेड़ पर कितनी अच्छी मिट्टी चढ़ाई गई है।" उन्हें तो वह शुभागमन दिखलाना था। महाराज ने अब की बार देख लिया। देख कर बहुत तृप्त हुए। तुरन्त बोले—"कुण्डार और गढ़कुण्डार दोनों के बीच की मिट्टी है ये।"

फिर उनकी दृष्टि मेरी झोपड़ी पर गयी। कहने लगे—"वास्तव में जैसा वर्णन तुमने झोपड़ी का किया था वैसी ही है। आधे पर खपरैल नहीं है।"

इसके उपरान्त उनकी आँख जंगल पर गयी। बोले—"जब तक यह जंगल खड़ा है यहाँ भी घाटा ही समझो।" मैंने कहा—"धीरे-धीरे कट जायगा।" "देखो" महाराज ने कहा, "ऐसे काम नहीं चलेगा। जंगल कटवा कर पैसे खड़े करो। उस पैसे से काम चलेगा, वैसे नहीं।"

जंगल मूल्यवान् था। महाराज ने वह जंगल बिना कोई भी मूल्य लिये दे दिया। इसी कारण यह फार्म उन्नति कर सका। उस झोंपड़ी में चाय पानी के समय आसपास के अँग्रेजी ग्रामों के भी कुछ जमींदार आये थे। और वे रीति के अनुसार महाराज को नजर भेंट करना चाहते थे। उनको हठ था परन्तु आरम्भ कैसे हो। इसलिए मैंने महाराज को नजर पेश की। महाराज ने चकित होकर कहा—"यह क्या तुम तो मेरे मित्र हो। तुससे नजर कैसे ले सकता हूँ?"

"ले सकते हैं।" मैंने उत्तर दिया।

महाराज बोले—"इसलिए कि तुम राज्य के किसान हो गये हो। इससे मित्र तो मिट नहीं गये।"

मैंने हठ करते हुए कहा—"यह कारण भी नहीं है। मेरे पुरखों ने, शताब्दियाँ गुजर गयीं, ओरछा राज्य से बहुत सम्मान पाया था। उनको ओरछे के किले के ठेठ द्वार तक तामझाम में बैठ कर जाने का अधिकार प्रदान किया गया था। मेरे घर में इसका लिखित प्रमाण है।"

"इसलिए तुम मुझको नजर करना चाहते हो।" महाराज ने हँसकर कहा—"अच्छा जो मन में आवे करो।"

मेरी नजर को स्वीकृत होने के उपरान्त अँग्रेजी के जमींदार नजर लेकर बढ़े। महाराज ने इन्कार कर दिया। जमींदार अभिलाषा-पूर्ण दृष्टि से मेरी ओर देखने लगे। मैंने महाराज से अनुरोध किया—"इनकी नजर भी स्वीकार करनी पड़ेगी।"

"वह किस नाते से ?" महाराज ने प्रश्न किया—"सामन्त युग के किसी सम्मान का इनको भी क्या कोई हक प्राप्त है ?"

व्यंग्य पर मैंने तुरन्त निवेदन किया—"सामन्त युग का नहीं, महाराज वर्तमान युग का। यह बुन्देलखण्डी हैं और आप बुन्देलखण्डियों के नेता।"

इस पर महाराज बहुत हँसे, बोले—"यह पद मुझको अभी प्राप्त नहीं है। यों ही कुछ लोग कहा करते हैं—मैं बुन्देलखण्ड का राजा बनना चाहता हूँ और अब न जाने क्या कहेंगे ?"

मैंने कहा—"राज्य की अधिकांश भूमि तो आपने अपने किसानों को दे दी है। बदले में किसानों ने अपने हृदय आपको दे दिये हैं। यदि राज्य के बाहर बुन्देलखण्डी, बुन्देल-खण्ड को एक करने की आशा में आपको अपने हृदय देने के लिये उतावले हैं तो कोई कुछ कहता रहे, कहने से क्या होता है ?"

मालूम नहीं महाराज को मेरा तर्क पसन्द आया कि नहीं, परन्तु उन्होंने मेरे अनुरोध को स्वीकार कर लिया।

महाराज को अहंकार तो छू कर भी नहीं निकला। परन्तु बुन्देलखण्ड या बुन्देलखण्डियों का निन्दक उनका प्रहार बिना खाये बच कर नहीं जा सकता। बुन्देलखण्ड के वन-पर्वत, नदी-नाले, झील-तड़ाग, जितने विशाल हैं, उतना ही विशाल वह प्रत्येक बुन्देलखण्डी की प्रतिभा को बनाने के आकांक्षी हैं। एक दिन कहने लगे—"कृष्ण-जन्म ब्रज में नहीं हुआ होगा। करील की छाया ही कितनी; और बैठता ही उसमें कौन होगा ? बुन्देलखण्ड की सघन करौंदी की छाया ही उपयुक्त हो सकती है। उसी छाया में बैठकर वह बाँसुरी बजती होगी।" बुन्देलखण्ड की फाग मधुर गायकी की चीज है। ईसुरी कवि की तीन-तीन कड़ियों की छोटी-छोटी सी फागें मानों प्रत्येक बुन्देलखण्डी को उच्चार के उपरान्त ही पकड़-जकड़ लेती हैं। महाराज ने बड़े परिश्रम से उनका स्वयं संग्रह किया और अपने हाथ से लिपिबद्ध किया और बड़े मोह के साथ उस संग्रह को पुस्तकालय में सुरक्षित रख लिया। एक दिन मैंने प्रार्थना की—"वह संग्रह मुझे देखना है।"

बोले—"जाने कहाँ पड़ा होगा अकस्मात् कुए में गिर गया था। निकलवाया। शायद रखा हो।" उसी समय संग्रह की खोज की गयी। मिल गया और मुझे दे दिया गया। अब वह संग्रह प्रकाशित हो रहा है।

अंग्रेजी के रहनेवाले अनेक लोग रियासतों के रहने वालों को बुद्धू और राजाओं को निरा आखेटलिप्त और व्यसन-विमूढ़ समझते हैं और उसी अनुपात में अपने को चतुर और गुण-सम्पन्न। किसी न किसी नाते या बहाने लोग रियासतों में पहुँच जाते हैं और अपनी धाक बिठलाने का प्रयत्न करते हैं। कोई शिल्प-विस्तार, कोई शिक्षा-प्रचार, कोई साहित्य-मीमांसा, कोई काव्य-रस प्रदान की प्रेरणा लेकर आता है। यह बहुत थोड़े लोग जानते हैं कि महाराज को इन सबका गहरा ज्ञान है

और उन्होंने इन विषयों का दीर्घ समय तक अध्ययन और विवेचन किया है। जब कोई विद्यादम्भी उनके सामने पहुँचता है तब थोड़े ही समय उपरान्त उसकी आँखें खुल जाती हैं। वह विविध प्रकार के कोषों के संकलन के पक्षपाती हैं और संकलन करवा रहे हैं। ग्रामों में ऐसे अनेक शब्द सुलभ हैं, जिनके समानार्थ वाले संस्कृत शब्द यों तो सुलभ नहीं हैं अथवा यदि प्राप्य हैं तो उनका आसानी के साथ प्रचार नहीं हो सकता। हिन्दी का शब्द दारिद्र्य उनको बहुत खलता है। परन्तु वह निराश नहीं हैं। उनका दृढ़ सिद्धान्त है और भाषा-शास्त्री इस बात का समर्थन भी करते हैं कि किसी भाषा के जीवन को रक्षित और पुष्ट रखने के लिए यह अत्यन्त आवश्यक है कि वह इधर-उधर के बोझों से न लादी जावे। अरबी-फारसी के अप्रचलित तथा अज्ञात शब्दों का प्रचार हिन्दी के सिर पत्थर के बराबर है और भारी भरकम संस्कृत शब्दों की ठूँसठांस हिन्दी की स्वतन्त्र गति में बेड़ी पहनाने के समान है। इसीलिए जगह-जगह ग्रामीण शब्दों, ग्रामीण कहावतों, ग्रामीण गीतों को ढूंढ़-ढूंढ़ कर सांस्कृतिक प्रकाश में लाया जा रहा है, जिससे भाषा सजीव हो जाय और हमारे राष्ट्रीय जीवन में स्वाभाविकता आ जाय।

हमारे यहाँ जो मनोहर चिड़ियाँ हैं क्या उनके नाम कोषों तक में हैं? कौन चिड़िया किस समय चहकती है, क्यों गाती या रोती है, वह कौन-कौन कवि या लेखक जानते हैं? महाराज ने इस विषय का भी मनन किया है और वह इसके अच्छे जानकार हैं। हिन्दी को प्रत्येक प्रकार से समृद्ध करना, यही उनकी धुन है।

महाराज का पुस्तकालय काफी बड़ा है और वह स्वाध्याय में पर्याप्त समय खर्च करते हैं। परन्तु यह केवल आत्म-सन्तोष के लिये नहीं। वह अपना उपार्जन हिन्दी को भेंट भी करते रहते हैं। विविध नामों से न जाने कहाँ-कहाँ और क्या-क्या वे लिखते रहते हैं। अपनी आलोचना पढ़ उनको क्षोभ नहीं होता। कोई उनके साथ अन्याय करता है तो हँस देते हैं। "मधुकर" को उन्होंने इतना बड़ा किया है। वह कभी-कभी उनके ही विरुद्ध भनभना उठता है परन्तु किसी ने न सुना होगा कि उन्होंने कभी बुरा माना। प्रसिद्ध पत्रकार श्री बनारसीदास चतुर्वेदी 'मधुकर' के सम्पादक हैं। महाराज के शिक्षक रहे हैं। कुछ सनकी हैं। सिलबिल्ले, परन्तु अब उनकी प्रशंसा यहाँ क्या की जाय? एक बार महाराज बम्बई जा रहे थे। अकेले ही जाना चाहते थे। चौबेजी को भी बम्बई जाने की सनक सवार हुई। महाराज से अनुरोध किया। महाराज ने प्रतिवाद किया। चौबेजी काहे को माननेवाले थे। महाराज को चौबेजी का हठ निभाना पड़ा। बोले—"रेल पर क्या, तुमको तो सिर पर भी लाद कर ले चलना पड़े तो ले चलूंगा।" चौबेजी को बम्बई काम कुछ नहीं था, केवल पुस्तकालय के लिये कुछ पुस्तकें खरीदनी थीं।

कुछ पत्र-सम्पादक रियासतों से बन्धान-सा बाँधे हैं। विविध प्रकार की लूट मची हुई है। किसी राजा की चापलूसी कर दी, किसीकी थोड़ी सी निन्दा, और पैसे वसूल कर लिये। अंग्रेजी के किसी नगर में बैठकर किसी राज्य के अमुक केन्द्र के

अपने पत्र के निज सम्वाददाता स्वयं बन जाते हैं। और कमजोरी की तो इन्द्र के स्वर्ग में भी कमी नहीं है। झूठ सच लिख लिखाकर राज्य से भेंट ऐंठते रहते हैं। जब महाराज कुछ वर्ष राज्य कर चुके थे, एक सम्पादक ने कुछ निन्दा लिखना आरम्भ की और एक ने कुछ प्रशंसा। उद्देश्य दोनों का एक ही था। महाराज ने बारी-बारी से दोनों को बुलवाया। दोनों आशा लेकर पहुँचे। निन्दक से कहा—"आपकी शायद यह कल्पना है कि आपकी निन्दा से मैं डर जाऊँगा। आप भ्रम में न रहें। आप निन्दा के पहाड़ भी मेरे ऊपर बरसावेंगे तो यहाँ की दुनिया टस से मस न होगी। मैं यदि मद्यपान करता हूँ तो भंग तो नहीं पीता। डाक्टरों से पूछिये कि इनमें अधिक निकृष्ट कौन सी चीज है। और फिर पानी पीता हूँ, कि शर्बत पीता हूँ, आलू-गोभी खाता हूँ या पालक-मेथी इससे संसार को क्या प्रयोजन ?" निन्दकजी निराश होकर चले गये।

चापलूसजी से कहा—"सवाई महेन्द्र की पदवी मेरे वंश की परम्परागत उपाधि है परन्तु आप मुझको वास्तविक इन्द्र बनाने में निरे अनाड़ीपन से काम लेते हैं। इन्द्र पानी बरसाते हैं और अभी मेरे पुरखों की बनवाई नहरें तक सूखी पड़ी हैं।"

वह भी निराश होकर चले गये परन्तु हिन्दी के अनेक कवि और लेखक ओरछा राज्य से सदा कुछ न कुछ पुरस्कार प्राप्त करते रहते हैं। प्रसिद्ध स्वर्गीय मुन्शी अजमेरी जी को महाराज ने काफी सम्मानित किया और लोगों के सम्मान की चर्चा वर्जित है, इसलिये न करूँगा।

महाराज की बड़ी इच्छा है कि बुन्देलखण्ड में हिन्दी का एक विश्वविद्यालय बने। हिन्दी और बुन्देलखण्डी के कोष बनाये जाएँ। बुन्देलखण्ड का एकीकरण हो। साम्यवाद की नींव पर समाज का क्रमशः सृजन हो। स्त्रियों को आर्थिक स्वतन्त्रता मिले और वे आत्मावलम्बिनी बनें। किसान समृद्ध एवं खुशी हों। प्राचीन ऐतिहासिक स्थानों का जीर्णोद्धार हो और उनके मित्र तथा स्वजन अखण्ड सुख के भागी हों।

महाराज लिखते तो बहुत अच्छी भाषा हैं ही, बोलते भी बहुत ही अच्छी हैं। जब वह बोलते हैं, ऐसा जान पड़ता है कि कोई बड़ा अभ्यस्त वाग्मी बोल रहा है।

महाराज को शिकार और खेल की, हाकी, गाल्फ, इत्यादि की अभिरुचि है। साहित्य प्रेमियों में इस शौक का होना अब भी कुछ विलक्षण-सा समझा जाता है। मेरे मित्र स्वर्गीय पं० बद्रीनाथ भट्ट ने अपने सहज मसखरेपन में एक बार मुझसे कहा था—"आपका और श्रीराम शर्मा का शिकारी होना हिन्दी लेखकों के लिए बट्टा है। हिन्दी लेखक या साहित्य-सेवी वह है जो बाजार में तरकारी लेने जावे तो बुद्धू बनकर लौटे। जिसके पेट में कुपच के कारण सदा पीड़ा मची रहे अर्थात् जो हर बात में निरा बछिया का ताऊ हो।"

कभी-कभी मैं भी महाराज के साथ शिकार में रहा हूँ। एक शिकार में अपने

सहज स्वजन प्रेम के कारण महाराज ने शिकार प्रबन्धक को आदेश दिया था— "वर्मा जी को बहुत अच्छी जगह पर बिठलाना।"

और महाराज स्वयं एक बहुत साधारण लगान पर जा बैठे थे। वह शिकारी और खिलाड़ी हैं, परन्तु अन्य राजाओं की तरह शिकार की लत बिलकुल नहीं है।

महाराज के पास थोड़ी ही देर बैठने के उपरान्त उनके अध्ययन और उनकी परिहासप्रियता का पता लग जाता है। प्रत्युत्पन्नमतित्व उनकी विशेषता है। तुरन्त कोमल परिहासपूर्ण अथवा सूक्ष्म व्यंगपूर्ण उत्तर देते हैं। परन्तु बातूनी व्यक्तियों से वे घबराते हैं।

"बच्चनजी" की कविता पर बहुत मुग्ध हैं। इतने कि एक बार उन्होंने "बच्चनजी" का एक पूरा काव्य मुझको बिजली के लैम्प के प्रकाश में खड़े-खड़े सुनाया था।

तुलसीदासजी की रामायण पर महाराज का बड़ा प्रेम है। वह चाहते हैं कि स्थान-स्थान पर तुलसीदास सोसाइटीज बनाई जावें और तुलसीदास का गवेषणापूर्ण अध्ययन किया जावे। उन्होंने स्वयं तुलसीदास का गहरा अध्ययन किया है।

मुझे महाराज के साहित्यिक परिवार के एक अंग होने का गौरव प्राप्त है। दूसरे महाराजाओं में और उनमें मुझे भारी अन्तर मिला। उनके दोषों की ओर भी मैंने संकेत सुने हैं किन्तु—

"एकोहि दोषौ गुण सन्निपाते,
निमज्जतीन्दौः किरणेष्विवांकः"

मैं परमेश्वर से प्रार्थना करता हूँ कि हमारे सवाई महेन्द्र इतने समर्थ बनें कि वह हिन्दी, बुन्देलखण्ड और हिन्दुस्तान को समृद्ध कर सकें।

भगवान् उन्हें चिरायु करें।

३

स्वर्गीय ओरछेश की प्रगतिशीलता

•

बनारसीदास चतुर्वेदी

प्रारम्भ में ही यह निवेदन कर दूं कि महाराज वीरसिंह जूदेव सामन्त युग के थे—स्वयं बुन्देलखण्ड के प्रमुख महाराज थे और राजा महाराजाओं पर पालीटिकल एजेण्टों का पूरा-पूरा दबाव था। इस दबाव के बावजूद उन्होंने काफी निर्भयता से काम लिया और राष्ट्रीय भावनाओं का समर्थन भी किया।

स्वर्गीय महाराज वीरसिंह जू देव से मेरा परिचय सन् १९१४ से ही था और डेली कालेज इन्दौर में चार वर्ष **१९१४ से १९१८ तक** उन्हें हिन्दी पढ़ाने का सौभाग्य मुझे प्राप्त हुआ था। तत्पश्चात् सन् १९३१ से उनसे पुनः सम्बन्ध स्थापित हुआ जो उनके जीवन-पर्यन्त अटूट रहा। इस बीच साढ़े चौदह वर्ष तक अक्टूबर १९३७ से मई १९५२ तक मुझे उनकी संरक्षकता में कुण्डेश्वर जैसे सुन्दर स्थान पर रहने का अवसर भी मिला। मैंने उन्हें बहुत निकट से देखा था, सैकड़ों बार ही उनसे दिल खोलकर बातें की थीं और उन्होंने मेरी प्रार्थना पर हजारों ही रुपये साहित्यिक तथा सांस्कृतिक कार्यों पर व्यय कर दिये थे—यदि उनको जोड़ा जाय तो कई लाख बैठेगा।

ओरछेश छोटे से छोटे व्यक्ति के गौरव को ध्यान में रखते थे जब कि मैं तो उनका शिक्षक था। वे खुशामद पसन्द नहीं करते थे और उन्होंने मुझसे कहा था—"चौबेजी अगर तुमने **मधुकर** में मेरी तारीफ में एक भी शब्द लिखा तो याद रखो मैं ललितपुर से तुम्हारा टिकट कटवा दूँगा।"

मधुकर के ५/६ वर्ष के अङ्क इस बात के साक्षी हैं कि उनकी इस आज्ञा का अक्षरशः पालन किया गया था।

जब उनको अभिनन्दन ग्रन्थ भेंट करने का सवाल उठा तो उन्होंने स्पष्ट मना कर दिया। ओरछा राज्य की आमदनी १४ लाख से ऊपर थी और उस ग्रन्थ पर १०-१५ हजार रुपये ही खर्च होते, जो महाराज के लिए एक बहुत छोटी रकम थी। पर महाराज साहब कीर्ति-लोलुप नहीं थे—विज्ञापन से दूर भागते थे। बड़ी मुश्किल से वे हस्तलिखित ग्रन्थ लेने को राजी हो सके। उस ग्रन्थ में उनकी जो प्रशंसा की गई थी, उसका भी उन्होंने मजाक उड़ाया था। ग्रन्थ भेंट किये जाने के बाद दूसरे ही दिन जब वे कुण्डेश्वर पधारे तो मुझसे बोले—

"चौबेजी ! कल रात को देर तक मैं तुम्हारे ग्रन्थ को झाँक-झाँक कर देखता रहा। उसमें तो अत्युक्तिमय प्रशंसा के पुल बाँध दिये गये हैं। मैंने महारानी साहिबा से कहा—"आप तो मुझे बुरा आदमी समझती हैं पर इस ग्रन्थ को पढ़िये तो आपका भ्रम दूर हो जायगा।" "

पद प्रतिष्ठा की वे सर्वदा उपेक्षा ही करते थे। एक बार उन्होंने कहा—

"मुझे G. C. S. I. या G. C. I. J. की उपाधि मिली थी, यह मैं भूल ही गया!" दिल्ली के हिन्दी साहित्य सम्मेलन के अधिवेशन का सभापतित्व उन्होंने अस्वीकार कर दिया था। यह बात ध्यान देने योग्य है कि सुप्रसिद्ध क्रान्तिकारी चन्द्र शेखर आजाद ने ओरछा राज्य के जंगलों में शरण पाई थी, पर उन्हें सिर्फ इतना ही मालूम था कि कोई क्रान्तिकरी वहाँ छिपा हुआ है। नाम वे नहीं जानते थे। महाराज के साथी और जागीरदार हरबलसिंह जी किसी एक क्रान्तिकारी से परिचित थे क्योंकि वन-विभाग उन्हीं के अधीन था। श्री हरबलसिंह जी भी उनका नाम नहीं जानते थे। श्री हरबलसिंह जी ने मुझे स्वयं सुनाया था—

मैं ओरछा के जंगलों में शिकार के लिये गया हुआ था। एक दिन एक हृष्ट-पुष्ट साधु ने मुझसे कहा—"क्या आप कृपा कर शिकार में मुझे भी साथ ले चलेंगे?"

मैंने कहा कि साधु जी महाराज! आपको शिकार से क्या मतलब? उन्होंने कहा "एक बन्दूक आप मुझे भी दीजिये। मैं भी कोशिश करूँगा।"

संकोचवश मैंने उन्हें बन्दूक दे दी और वे भी साथ हो लिये। एक भयंकर अकेला सुअर बहुत दूर पर निकला, हम सबने गोली चलाई, पर निशाने चूक गये। तब साधु जी ने गोली चलाई इस बीच वह सूअर और भी आगे निकल गया था, पर साधु जी का निशाना ठीक बैठा और वह सुअर वहीं धराशायी हो गया। तब मैंने उन साधु जी से कहा—"आप तो कोरमकोर साधु नहीं हैं, कोई अवतारी पुरुष हैं।" पर वे मुस्करा कर रह गये। बहुत दिनों के साथ के बाद उन्होंने अपने बारे में कुछ बतलाया और एकाध action कार्यवाही में मैं भी उनके साथ रहा, पर किसी को भी मैंने यह बात बतलाई नहीं। आज आप से कह रहा हूँ।" यद्यपि उन्हें भी आजाद का नाम मालूम नहीं था, तथापि वे इतना जानते थे कि ये कोई प्रसिद्ध क्रान्तिकारी हैं।

जैसा कि मैंने लिखा है श्रीमान् ओरछेश को भी सिर्फ इतना ही पता था कि किसी क्रान्तिकारी ने हमारे जंगलों में शरण ली है। महाराज ने स्वयं मुझसे कहा था—

जब लार्ड इर्विन ओरछा जाने वाले हुए तो उस क्रान्तिकारी ने मेरे पास खबर भेजी कहो तो 'करिश्मा' कर दिखावें? मैंने उनसे कहला भेजा—"हमारे मेहमान सो तुम्हारे मेहमान। इस समय तुम जंगल से दूर ही चले जाओ।"

महाराज वीर सिंह जू देव उनके माता-पिता व दो छोटे भाई बाल अवस्था में

महाराज के साथी तथा मंत्री ठाकुर सज्जन सिंह ने हमें बतलाया था कि उस समय ओरछा के जंगल में बीसियों C.I.D. मौजूद थे। आजाद के शहीद होने पर ही उनका शुभ नाम महाराज को मालूम हुआ था। फिर भी इस बात का श्रेय उन्हें मिलना ही चाहिये कि आजाद ने उनके राज्य में शरण पाई थी।

सन् १९४२ के आन्दोलन में तो कई क्रान्तिकारी कुण्डेश्वर में रहे थे और उनकी उपस्थिति का हाल मैंने महाराज को सुना भी दिया था। एक बार महाराज ने खुद मुझ से कहा था—

"चौबेजी तुम्हारा कुण्डेश्वर तो एक जानी पहचानी जगह है। क्रान्तिकारियों को तुम जतारा की तरफ जंगलों में क्यों नहीं भेज देते ?"

मैंने यह सावधानी नहीं बरती थी। एक बार हमारे नौकर जगन्नाथ धीमर ने कहा—

"एक अनजान आदमी मुझसे पूँछ रहा था कि तुम्हारे यहाँ वह गंजी चाँद वाला आदमी कौन रहता है ?"

वे महाशय तार काट-काट कर झांसी होते हुए कुण्डेश्वर पधारे थे। मैंने उनका नाम भी नहीं पूँछा और **'त्रिपाठी'** नाम रख दिया, क्योंकि उनकी बातचीत से पता लग गया था कि वे कान्यकुब्ज ब्राह्मण हैं। मैं समझ गया कि खुफिया पुलिस उनका पीछा कर रही है। तब पचास रुपये देकर मैंने उन्हें बानपुर के टेढ़े-मेढ़े रास्ते ललितपुर रवाना कर दिया और जबलपुर के एक नेता के नाम पत्र भी लिख दिया। उन नेता महोदय ने बड़ी सावधानी से काम लिया—यानी उन्हें शरण नहीं दी और मुझे लिख दिया—

"अज्ञात कुल शीलस्य वासो देयो न कस्यचित्" यानी जिसका कुल शील ज्ञात न हो, उसे अपने पास न ठहरावे। पर मैंने सदैव इसके विपरीत ही काम किया। जब प्रोफेसर रंजन (यह कल्पित नाम था) फीरोजाबाद पधारे तो मैंने उन्हें कुण्डेश्वर जाकर शरण लेने की सलाह दी थी। वे अजमेर जेल का फाटक तोड़कर भागे थे। कई महीने वे हमारे पास रहे और। उन्हें ५० रु०) महीने भी महाराज के दिये हुए कोष से मिलते रहे। वे शायद जबलपुर में, जहाँ M. A. की परीक्षा देने गये थे, पकड़े गये थे। तब भेद खुला कि वे कुण्डेश्वर में रहते हैं ! श्रीचन्द अग्निहोत्री, जो आगे चलकर सोवियत भूमि में नौकर हुए, हमारे यहाँ छिपे रहे थे। मऊ (आजमगढ़) के भी एक युवक छिपे रहे थे। श्री बिहारीलाल विश्वकर्मा, सरीला ने भी टीकमगढ़ में शरण पाई थी। कविवर श्री मिश्रजी के जामाता ने भी फौजी नौकरी से भागकर कुण्डेश्वर में शरण ली थी। उनका नाम मैंने बिहारीलाल रख दिया था।

एक बार कुण्डेश्वर की एक चिट्ठी पुलिस के हाथ लग गई, जिसमें लिखा था कि बुन्देलखंड सेवा-संघ दरअसल कांग्रेस का ही काम करता है ! P. A. पालिटिकल एजेण्ट ने इस पर जवाब तलब किया था। यह बात ठाकुर सज्जन सिंह जी ने मुझे

सुनाई थी। ठाकुर साहब ने पोलिटीकल एजेण्ट से कहा था—"मैंने तो अपना एकमात्र पुत्र फौज में भेज दिया है। आप हम लोगों पर अविश्वास क्यों करते हैं ? हमारे यहाँ ब्रिटिश सरकार के विरुद्ध कोई कार्रवाई हो ही नहीं सकती।"

मुख्य मंत्री शुक्ल जी ने यह मामला साध दिया था, नहीं तो उसी समय मुझे कुण्डेश्वर छोड़ना पड़ता।

श्रीमान् ठाकुर सज्जन सिंह ने मुझसे कहा था—

"चौबे जी ! आप सोच समझकर काम करें। अगर आप पर कोई आँच आने वाली होगी तो महाराज आपकी रक्षा के लिये गद्दी भले ही छोड़ दें, आपका साथ नहीं छोड़ सकते। आप उन्हें संकट में न डालें।"

जब मेरे नाम बिहार तथा यू. पी. दोनों प्रदेशों की सरकार के वारण्ट थे, महाराज ने मुझे ब्रिटिश सरकार के सुपुर्द नहीं किया। मैंने उनसे कहा भी था "मुझे जेल जाने दीजिये, आप राज्य को संकट में क्यों डालते हैं ?" इस पर महाराज ने यही कहा :—

"तुम जेल से जिन्दा नहीं निकलोगे। वहाँ चार बजे चाय और पेड़ों का प्रबन्ध तुम्हारे लिये कौन करेगा ? और जवाकुसुम और अनीमा ! तुम बीमार पड़ जाओगे।" वैसे महाराज ने मजाक में पुलिस सुपरिण्टैण्डैण्ट श्री पहाड़िया से कहा था "चौबेजी को जेल की हवा खा आने दो" पर प्राइवेट में उन्हें मना कर दिया था।

पंडित चन्द्रसेन ने स्वयं मुझसे कहा था "आपके नाम तो सिर्फ दो जगह से वारण्ट हैं, लालाराम बाजपेयी के नाम चार जगह से !"

मैंने एक बार पंडित चन्द्रसेन जी से पूछा था—"आपने श्री चतुर्भुज पाठक को क्यों जेल में बन्द कर दिया था ?" उन्होंने कहा—

"यह बात प्राइवेट तौर पर आपको बतला दूँ। पालिटिकल एजेण्ट ने बहुत जोर देकर हुक्म दिया था कि चतुर्भुज पाठक को तो पकड़ कर जेल में डाल ही दो।" हम लोगों को उनके सामने दबना ही पड़ता था। यह हमारी मजबूरी थी।"

एक बात और भी कह दूं। एक बार मैंने महाराज से श्री लालाराम वाजपेयी की शिकायत की और कहा "वाजपेयी जी आपकी निन्दा खुल्लम-खुल्ला करते हैं, जबकि चार जगह से वारंट होने पर भी आपने उन्हें ब्रिटिश सरकार के सुपुर्द नहीं किया।"

महाराज ने कहा "वाजपेयी हमारी प्रजा हैं, हम उनके राजा। राजा प्रजा के झगड़े में आप दखल क्यों देते हैं ?"

मैं चुप रह गया। एक बार मुख्य मंत्री श्री शुक्ल जी ने मुझसे कहा था :— "आपके यहाँ कम्यूनिस्ट नारायण दास खरे शरण पाते हैं, यह बात महाराज को ठीक नहीं जँचती"। इस पर मैंने कह दिया "महाराज मेरे शिष्य हैं और मैं उनका गुरु।

महाराज वीर सिंह जू देव परिवार सहित । राजा बहादुर देवेन्द्र सिंह,
सुधा कुमारी व महारानी कमल देवी ।

गुरु चेले के बीच में बोलने वाले आप कौन होते हैं ?" महाराज ने कभी भी मेरे यहाँ आने या रहने वाले के बारे में कोई चर्चा नहीं की।

कुण्डेश्वर की यह परम्परा थी कि वहाँ सभी दलों के लोग इकट्ठे होते थे, यद्यपि मेरा किसी दल विशेष से सम्बन्ध नहीं था।

विन्ध्य प्रदेश बन जाने के बाद भी यह परम्परा कायम रही। विन्ध्य प्रदेश सरकार के एक उच्चतम अधिकारी ने मेरे बारे में मुख्यमंत्री को लिखा था—

"His place is a rendomous for Socialists cum Communists. यानी उनका स्थान समाजवादियों तथा साम्यवादियों का प्रेम मिलन स्थल है।"

इस पर मुझसे जवाब तलब किया गया था और नौकरी छूटते-छूटते बची थी। यहाँ पर मैं श्री रामसेवक रावत के दो पत्र ज्यों के त्यों देता हूँ जो क्रान्तिकारी थे और जिनका एक हाथ बम बनाने में उड़ गया था। वे कई महीने हमारे साथ कुण्डेश्वर में रहे थे। मजाक-मजाक में ओरछेश से कह दिया था :—"रावत जी ने रसगुल्ले बनाये थे, सो एक रसगुल्ला फट गया और उससे उनका हाथ कट गया।"

श्री रामसेवक रावत का पत्र

झांसी

३१-१०-७६

श्रद्धेय गुरुदेव,

आपका आदेश पत्र मिला। स्व० वीरसिंह जू देव निश्चय ही स्मृति ग्रन्थ के अधिकारी हैं। हिन्दी के लिए उनकी सेवायें भी अविस्मरणीय हैं।

आपके माध्यम से ही मैं उनकी कृपाओं से उपकृत हुआ। फरारी की हालत में मैं वहाँ संरक्षण लेता रहा और राजनीतिक गतिविधियों का भी गुप्त रूप से संचालन करता रहा। यह सब आपके ही सौजन्य और ओरछेश की कृपा से सम्भव हो सका।

महरौनी और मऊरानीपुर के स्वतन्त्रता के सेनानी भाग कर वहाँ आ जाते थे और उन्हें हर प्रकार का संरक्षण मिल जाता था। कुण्डेश्वर न केवल साहित्यिक केन्द्र था किन्तु स्वतन्त्रता आन्दोलन के संचालन का एक गुप्त अड्डा भी था!

मेरे सम्बन्ध में भी झांसी के अंग्रेज कलैक्टर ने ओरछेश को लिखा था कि वे मुझे गिरफ्तार कर झांसी पुलिस के हवाले कर दें किन्तु स्व० देव ने यह प्रस्ताव ठुकरा दिया था। पोलीटिकल एजेन्ट के लिखने पर भी वे नहीं झुके थे!

अपने सम्बन्ध में कुछ भी अधिक कहने, लिखने का मेरा स्वभाव नहीं है। क्रान्तिकारी दल में प्रत्येक बात सीमा के भीतर करने की ट्रेनिंग दी जाती थी। उन

दिनों वहाँ अधिक चर्चा करना उचित नहीं था। मुझे भय था कि कहीं यहाँ से भी मुझे अपने भयानक रूप के कारण भागना न पड़े।

देश की राजनीति में एक गरम लहर सरदार भगतसिंह और अमर शहीद आजाद ने अपने बलिदान से उत्पन्न कर दी थी।

झांसी आजाद की क्रीड़ा-भूमि रही है। भाई भगवान दास माहौर और सदाशिव राव ने उनके सम्पर्क में आ कर बलि वेदी के कुंड में समिधाएँ डालीं। उसकी आग से हम लोगों ने भी प्रभावित हो कर। इन लोगों के जेल चले जाने के बाद जैसा उस समय बन सका क्रान्तिकारी पथ पर काम किया। मूल प्रेरणा डा० माहौर और सदाशिव राव के कार्यकलापों द्वारा मिली थी। वे सब बातें स्वप्नवत् हो गई हैं। अब तो उनकी चर्चाएँ ही हैं।

आज्ञाकारी
रामसेवक रावत

द्वितीय पत्र

झांसी
२९-११-७६

श्रद्धेय दादा जी,

आपका कार्ड मिला। स्व० ओरछेश श्री वीरसिंह के सम्बन्ध में आपने जो प्रश्न किया है उसका संदर्भ निम्न प्रकार है।

जिन दिनों मैं कुण्डेश्वर रहता था, एक बार कोतवाली के समीप जाते हुए राज्य के तत्कालीन गुप्तचर विभाग के महादेव नामक एक चीफ ने मुझे टोका। और कहा कि आप कोतवाली चलें। वह व्यक्ति मुझे पहचानता था क्योंकि उसकी वहिन झांसी में मेरे पड़ोस में ही ब्याही थी। जब मैं कोतवाली पहुँचा तो मुझे तत्कालीन S. P. स्व० मनोहर सिंह ने बताया "आपके विरुद्ध वारंट है और झांसी के D. M. श्री मुनरो ने पत्र भी लिखा है कि आपको बंदी बनाकर झांसी पुलिस को सौंप दिया जाय।"

स्व० मनोहर सिंह को मैंने बतलाया कि मैं तो कुण्डेश्वर में अतिथि के रूप में पं० बनारसीदास चतुर्वेदी के पास ठहरा हुआ हूँ। मैं यहाँ किसी राजनीतिक उद्देश्य से नहीं आया। केवल हिन्दी का काम करता हूँ। आप मुझे गिरफ्तार करना चाहते हैं और झांसी भेजना चाहते हैं तो श्री जू देव से पूछ लीजिए। उन दिनों पं० चन्द्रसेन टीकमगढ़ में नहीं थे। वे बम्बई गए हुए थे।

३-४ घण्टे तक मुझे कोतवाली में रोका गया। स्व० मनोहर सिंह ने ओरछेश से परामर्श किया। बाद में उन्होंने बताया कि आप कुण्डेश्वर जा सकते हैं। आपको

झांसी नहीं भेजा जायगा। D. M. के पत्र का जवाब लिख दिया जाएगा आप जावें। इस पर मैं कुण्डेश्वर चला आया।

एक दिन मैं स्व० सज्जन सिंह की कोठी के सामने जा रहा था। वे कमरे में बैठे हुए दिखाई दिए। उनके शिकार सम्बन्धी लेखों की रोचक अभिव्यक्ति की भाषा मुझे पसन्द थी। अतः उन्हें लेखों के प्रकाशन पर बधाई देने के लिए चला गया और यह भी अनुरोध किया कि आप इन्हें पुस्तकाकार में छपा डालें।

वार्ता के दौरान स्व० सज्जन सिंह ने पोलीटीकल एजेन्ट की चर्चा की। उन्होंने भी मेरा नाम नहीं लिया था लेकिन इसी सम्बन्ध में कहा था कि आप लोगों के विरुद्ध तो श्री जू देव के पास पत्र आए हैं जिसमें सभी लोगों के विरुद्ध राजनीतिक गतिविधियों के आरोप हैं और उन्होंने लिख दिया कि यह लोग यहाँ साहित्यिक काम कर रहे हैं। यदि कुछ राजनीतिक आन्दोलन किया तो इन्हें हम स्वयं बन्दी बना लेंगे।

झांसी की पुलिस सैदपुर मेरा पता लगाने गई थी। वहाँ के लोगों ने बता दिया कि वे कुण्डेश्वर पर रहते हैं। अतः यह जानकारी S. P. तथा D. M. को मेरे सम्बन्ध में थी। इसी आधार पर श्री जू देव को अंग्रेज कलैक्टर श्री मुनरो ने पत्र लिखा था।

सैदपुर के लोग मुझसे कुंडेश्वर आकर मिल जाते थे। और श्री शिवराजसिंह उस क्षेत्र के व्यक्तिगत सत्याग्रह के संचालक थे। क्षेत्र के सभी लोगों को प्रेरित कर सत्याग्रह के लिए प्रेरित करने का काम हम दोनों के निर्देशानुसार होता रहा था। क्योंकि उस क्षेत्र में रह कर मैंने वहाँ काँग्रेस कार्यकर्ताओं का संगठन किया था।

उन दिनों आन्दोलन के सम्बन्ध में चर्चा आपसे भी नहीं करता था, क्योंकि मुझे यह भय था कि राज खुलने पर मुझे भी कुंडेश्वर से न भागना पड़े। वह स्थान काम की दृष्टि से अधिक सुरक्षित केन्द्र था। स्व० घासीराम व्यास जो जिले के उन दिनों डिक्टेटर थे, उनका सुझाव था कि मैं कुंडेश्वर ही रुका रहूँ तथा महरौनी तहसील से अधिक स्वयं-सेवकों को सत्याग्रह के लिए प्रेरित करता रहूँ जिससे आन्दोलन का तारतम्य जारी रहे। मेरा जब कोटा पूरा हो गया तो स्व० व्यास जी आए और उन्होंने कहा अब मैं गिरफ्तार मऊ में हो जाऊँगा। वहीं से सत्याग्रह करूँगा। यहाँ से अब तुम विदा लेकर गरौठा तहसील चले जाओ। वहाँ का काम चलाना है।

कुंडेश्वर से गरौठा न जाकर मैं आगरा चला गया और चौबे होस्टल में रहने लगा था। झांसी के कुछ विद्यार्थी उन दिनों चौबे होस्टल में पढ़ते थे।
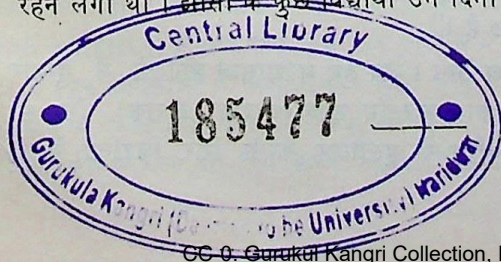
आज्ञाकारी
रामसेवक रावत

४

महाराज वीरसिंह जूदेव 'ओरछेश'

बनारसीदास चतुर्वेदी

९ अक्टूबर १९५६ को प्रातः काल के समय जब तार द्वारा यह समाचार मिला कि महाराज वीरसिंह स्वर्गवासी हो गये तो हृदय को एक जबरदस्त धक्का लगा और पिछले ४२ वर्ष की बातें एक के बाद एक याद आने लगीं। सन १९१४ से १९१८ तक चार वर्ष उन्हें हिन्दी पढ़ाने का सौभाग्य मुझे प्राप्त हुआ था। वे इन्दौर के राजकुमार कॉलेज के छात्र थे और मैं वहाँ हिन्दी शिक्षक बन कर गया था। ग्यारह वर्ष तक अध्यापक रह कर सैकड़ों ही विद्यार्थियों को मैंने पढ़ाया होगा, पर अपने जीवन में महाराज वीरसिंह जू देव जैसा दूसरा शिष्य मुझे नहीं मिला—उन जैसा सहृदय, उदार, सुसंकृत और गुरु-भक्त। इससे अधिक दुर्भाग्य की बात और क्या हो सकती है कि किसी गुरू को अपने शिष्य के संस्मरण लिखने पड़ें?

पर हम लोगों का समझौता इसके बिल्कुल विपरीत ही था। महाराज पीते थे और अच्छी मात्रा में पीते थे। वह उनका एक व्यसन था। इसका उनके स्वास्थ्य पर बड़ा विघातक प्रभाव पड़ा था। पर उन्होंने अपने इस दोष को कभी किसी से छिपाया नहीं, उल्टे वे इसका ढिंढोरा पीटते रहे। वे पूरे फक्कड़ आदमी थे। अगर उन्हें किसी चीज से घृणा थी तो दम्भ से।

"ऐब ये है कि करो ऐब हुनर दिखलाओ, वर्ना याँ ऐब तो हर फर्दे वशर करते हैं।"

एक दिन उन्होंने कहा, "देखो चौबेजी, तुम तो पीते नहीं। हमारी एक बात मानोगे?"

मैंने कहा, "आप आज्ञा दीजिए, ठीक होगी तो जरूर मानूँगा।"

"ठीक क्या, सवा सोलह आने ठीक है। तुम आत्म-चरित तो लिखोगे ही।"

मैंने कहा, "विचार तो कुछ है।"

"तो फिर उसे लिखकर रख लेना। जब तुम मरणासन्न होगे तो मैं तुम्हारे पास पहुँच कर तुम्हें बढ़िया ब्राण्डी का एक स्ट्रोंग डोज (जोरदार खुराक) दूंगा, सो भड़भड़ा के उठ बैठना और आत्म-चरित पर हस्ताक्षर करके फिर चिरनिद्रा में सो

जाना।" ऐसा कह कर वे खिलखिला कर हँसे और मैंने भी उनका साथ देते हुए कहा, "यह समझौता मुझे बिल्कुल स्वीकार है।"

खेद है कि अपने इस समझौते को तोड़कर वे पहले ही चले गये। व्यालीस वर्ष के विस्तृत पास्परिक सम्बन्ध में यह पहली बार ही उन्होंने अपना वचन भंग किया, धोखा दिया।

लोग इस बात की कल्पना भी नहीं कर सकते थे कि कोई राजा महाराजा ऐसा भी हो सकता है, जो लाखों रुपये खर्च करते हुए विज्ञापन या कीर्ति को इतनी उपेक्षा की दृष्टि से देखे।

महाराज वीरसिंह जी को अनेक लोगों ने धोखा दिया, बहुतों ने ठगा, पर जब कभी उनसे उनका कोई शुभचिन्तक शिकायत करता तो उनका सिर्फ एक ही जवाब होता था :

कबिरा आप ठगाइये, और न ठगिये कोइ।
आप ठगे सुख ऊपजे, और ठगे दुख होइ॥

एक बार महाराज कलकत्ते गये और वहाँ 'माडर्न रिव्यू' तथा 'विशाल भारत' के कार्यालय में भी पधारे। यह उन दिनों की बात है कि जब 'प्रवासी प्रेस' पर गवर्नमेंट की कुदृष्टि थी और तीन वर्ष में तीस बत्तीस बार उसकी तलाशी भी हो चुकी थी और 'इण्डिया इन बॉण्डेज' किताब जब्त हो चुकी थी। दूसरा कोई महाराज इस खतरे को मोल न लेता। जब मैं उन्हें बड़े बाबू (श्री रामानन्दजी चट्टोपाध्याय) की सेवा में ले गया तो महाराजा साहब ने बड़ी विनम्रता से कहा, "हम लोग राजा-महाराजा तो थोड़े ही दिनों के हैं आखिर शासन तो आप लोगों का ही होगा।"

महाराजा साहब रामानन्द बाबू के स्वाधीनता-प्रेम के कायल थे और उनके प्रशंसक भी। उन्होंने 'माडर्न रिव्यू' की तमाम पुरानी फाइलें अपने पुस्तकालय के लिए मँगवाली थीं। बड़े बाबू के स्वर्गवास के बाद उन्होंने कहा था, "जब तक रामानन्द बाबू सम्पादक रहे तब तक के 'माडर्न रिव्यू' हमारे पुस्तकालय में रहने ही चाहिए।"

"मैं एक अखबार कभी नहीं पढ़ता, यानी 'विशाल भारत'।"

मैं पूछता, "आप ऐसी नाराजगी 'विशाल भारत' पर क्यों करते हैं? उनका उत्तर होता, "चौबेजी तुमने उसे बिल्कुल नीरस बना दिया है। सजीव साहित्य को तुमने 'घासलेट' साहित्य का नाम दे दिया है। तुम क्लासिक्स की कद्र ही नहीं कर सकते।"

मैं कहता, "क्लासिक्स में तो मैं रामायण-महाभारत का बहुत प्रेमी हूँ। उनका उत्तर था, "मैं तो माडर्न क्लासिक्स की बात कहता हूँ, जैसे किस्सा तोता मैना, छबीली भटियारिन, किस्सा साढ़े तीन यार इत्यादि।"

जिन कविताओं में गाली-गलौज होता उन्हें वे खासतौर पर पसन्द करते थे। "बड़े बड़ ····सों चतुर कन्हयो परो।" वे कहते, "इसमें यह शब्द········कविता की जान है। उसे निकाल दो, फिर उसमें रह ही क्या जाता है?"

महाराज खुशामद-पसन्द न थे और अपनी कटु आलोचना बड़ी शान्ति से सुन सकते थे। कविवर मुंशी अजमेरीजी ने कई बार उनकी अत्यन्त कठोर आलोचना की थी, पर उन्होंने उसे बड़ी विनम्रता से सुन लिया और अपनी स्थिति स्पष्टतया प्रकट कर दी। एक बार ओरछा में बहस-मुबाहिसे के दौरान राष्ट्र कवि मैथिलीशरणजी गुप्त ने उनसे काफी कठोर बात कह दी, पर उन्होंने उसका बिल्कुल बुरा न माना।

अक्टूबर १९३७ से अप्रैल १९५२ तक सभी प्रकार के व्यक्ति मेरे अतिथि बनते रहे, पर महाराजा साहब ने मेरी स्वाधीनता में कभी बाधा नहीं डाली। उनके शासन के कट्टर आलोचक तथा विरोधी भी मेरे निकट रहते थे। उनका वेतन इत्यादि भी मेरे हिसाब में महाराज के पास से ही आता था।

महाराज ने जिस किसी को शरण दी, फिर कभी उसे छोड़ा नहीं। कभी-कभी अवांछनीय व्यक्ति भी उनका आश्रय पा लेने में सफल हो जाते थे और उनके दुर्गुणों को भली-भाँति जानते हुए भी आँखों के लिहाज की वजह से वे उनका परित्याग कभी नहीं कर सकते थे।

हिन्दी साहित्य के लिए उन्होंने जो कुछ किया—देव पुरस्कार देकर, राज-कवियों को आश्रय देकर, 'मधुकर' 'लोकवार्ता' इत्यादि का प्रकाशन कराकर, उसे हिन्दी जगत भली-भाँति जानता है। एक छोटी सी रियासत के राजा के लिये लाखों रुपये इस प्रकार खर्च करना कोई आसान बात नहीं थी। राजा महाराजाओं की मनोवृति उन्हें नापसन्द थी।

वृहत्तर बुन्देलखण्ड का प्रान्त निर्माण आन्दोलन उन्हीं का चलाया हुआ था। अपने जीवन के अन्तिम दिनों में उन्हें इस बात का सन्तोष था कि नवीन मध्य प्रदेश के निर्माण से उनका स्वप्न अधिकांश में पूरा हो गया, पर साथ ही साथ उन्हें इस बात का कुछ खेद भी रह गया कि झाँसी डिवीजन यू० पी० में ही छूट गया।

महाराज वीरसिंह के चले जाने से हिन्दी का एक हिमायती, अपने प्रांत तथा जनपदीय भाषा का समर्थक, और कवियों का आश्रयदाता ही नहीं उठ गया, बल्कि एक फक्कड़-शिरोमणि भी चल बसा।

नोट—एक बात तो सुनिश्चित है—वह यह कि आजाद को ओरछा राज्य के जंगलों में शरण मिली थी, पर दो बातें सर्वथा विवादग्रस्त हैं—

पहली—स्वर्गीय हरबलसिंह का आजाद से व्यक्तिगत परिचय,

दूसरी—आजाद का महाराज वीरसिंह जूदेव को सन्देश भेजना।

शहीद आजाद जैसे महामानव से निजी जान पहचान की उत्कट इच्छा ऐसी भ्रमात्मक कल्पना को जन्म दे सकती है।

५
पत्र लेखक 'ओरछेश'

बनारसीदास चतुर्वेदी

सम्भाषण और पत्र-लेखन ये दो कलाएँ ऐसी हैं, जिनमें बाजी मार ले जाना अत्यन्त कठिन है, क्योंकि पहली में तो अखिल जगत आपका प्रतिद्वन्द्वी है और दूसरी में समस्त शिक्षित समुदाय। इसके सिवाय पत्रों में थोड़ी सी कृत्रिमता का प्रवेश होते ही उनका सारा महत्व ही जाता रहता है। जो पत्र सार्वजनिक प्रदर्शन के लिये लिखे जाते हैं पत्र-साहित्य में उन्हें कोई स्थान नहीं मिल सकता। असली पत्र उन्हीं को माना जाना चाहिए, जिन्हें प्रकाशित करने की भावना भी लेखक के हृदय में न आई हो। इस दृष्टि से श्रीमान् ओरछेश के पत्र काफी महत्व रखते हैं। उनमें स्वाभाविकता है, प्रवाह है, विनोद है और विनम्रता है। संक्षेप में यों कहिये कि उनका व्यक्तित्व इन पत्रों में स्पष्ट बोल उठता है। उदाहरण के लिये उनके कुछ पत्रों के अंश यहाँ दिये जाते हैं।

प्रकृति प्रेम

बल्देवगढ़—२९-१२-३३

मैं आजकल यहाँ पर अपनी Annual X'mas Shoot के लिये पड़ा हुआ हूँ। यह स्थान हमारी पाँच तहसीलों में से एक है। बहुत ही सुन्दर स्थान है। दर्शनीय है। ग्वाल-सागर नाम का प्रशस्त और सुन्दर तालाब है। इसी के बन्द पर हमारे डेरे लगे हुए हैं। तालाब के दो ओर सघन वन हैं और तट पर दो तीन छोटे-छोटे गाँव बसे हैं और तीसरी ओर बिल्कुल पानी से लगी हुई पर्वत-श्रेणी है। बन्द के छोर से दो सौ गज की लम्बाई तक इस पर्वत की ठांटी पोंठ ही चली गई है। इसी पोंठ के सहारे मेरा डेरा लगा हुआ है। अरुणोदय की गुलाबी कोमल किरणें जल-तरंगों से अठखेलियाँ करती हुई, क्या कहूँ, कितनी भली मालूम होती हैं—"गिरा अनयन नयन बिनु बानी।" किन्तु कुछ देर बाद प्रभाकर अपनी प्रचण्ड प्रतिभा से प्रशस्त पृथ्वी को प्रकाशित करते हुए प्रकट होते हैं। उनकी जाज्वल्यमान किरणें भी तरंगों से अठखेलियाँ करती हुई सुन्दर मालूम होती हैं, पर प्रतिभापूर्ण सौन्दर्य से। उनमें वह कोमल सौन्दर्य कहाँ। इधर आपको पत्र लिख रहा हूँ और उधर इसी बात को ले कर हृदय में अनेक प्रकार के भाव उठ रहे हैं। कह नहीं सकता कि मेरे इस

वर्णन को पढ़ कर आप के हृदय में भी कोई भाव उठेंगे या नहीं । सम्भव है ट्रिनीडाडी मित्र का किसी रूप में स्मरण हो आवे ।........"

हिन्दी-प्रेम

टीकमगढ़—११-६-३४

"........राजा साहब ... .. का कुछ न कहें । वे हिन्दी पढ़ना ठीक नहीं समझते । शायद उनका यह ख्याल है कि हिन्दी का विशेष अध्ययन करने से उनकी इङ्गलिश खराब हो जायगी और फिर वे 'होम' जो हो आये हैं । छी ! छी ! वे क्या हिन्दी सी गन्दी भाषा पढ़ेंगे ? आप भी खूब मृगतृष्णावत आशा उनसे रखते हैं ...... ।"

परिहास और फक्कड़पन

बम्बई—२०-५-३७

"...........जब तक आप उस गन्दी गली में मारवाड़िनों के जूं भरे लहंगों के साये में निवास करेंगे तब तक भला कैसे चित्त ठिकाने रह सकता है ? मुझे तो यह आश्चर्य है कि अब तक आप जीवित कैसे हैं ।"

टीकमगढ़ – १०-१-३३

क्या कहना है विधुर जी महाराज ! खूब कवित्त लिखा है । कलम तोड़ दी, दावात लुढ़का दी, कागज नोच खाया । कहाँ तक तारीफ करूँ—वल्लाह वाह माशा अल्ला ! उसकी तीसरी पंक्ति से मुझे कोई आपत्ति नहीं । फक्कड़ हूँ इसीलिए आपत्ति नहीं करता, क्योंकि

"मैं खूब समझता हूँ तेरी उशवागरी को साकी
काम करती हैं आँख नाम है पैमाने का ।"

टीकमगढ़—६-६-३३

".... भूतपूर्व क्या आज भी आप मेरे शिक्षक हैं पर क्षमा करियेगा फक्कड़पन में आप मुझ से बाजी नहीं ले जा सकते । इसमें सन्देह नहीं कि मुझे.... ....और एक साथी की आवश्यकता होगी किन्तु इससे क्या ? क्या मैं फक्कड़ मिट जाऊँगा ? इतना सब होते हुए फक्कड़ बना रहना जरा टेढ़ी खीर है । और आपका तो वह मसला है कि "नंगा नहावे निचौड़े क्या ?"

शिकारी शिकार को मारे या न मारे यह उसकी इच्छा की बात है पर शिकार विचारा क्या करे ? इसी प्रकार मृगों का शिकार चाहे आप न करें पर मृगनैनियों का शिकार बनना या न बनना आपके हाथ की बात नहीं ।"

टीकमगढ़—११-६-३४

".......जी, मुझे आपके कार्यालय में ५० रु० मासिक पर अनुवादक स्थान स्वीकार है, पर यह 6 P. M. वाली शर्त मुझे स्वीकार नहीं, क्योंकि ६ बजे के बाद ही तो inspiration प्राप्त करने का समय होता है । और उसी समय आप मुझे

कमरे में वन्द कर लेना चाहते हैं। तो फिर मैं अनुवाद क्या करूँगा अपना सर ?"

प्रजा-प्रेम

टीकमगढ़—१०-७-३७

"अभी बीच में हुलकी का प्रकोप प्रचण्ड हो गया था किन्तु अव शनैः-शनैः घट रहा है। बिल्कुल शान्त होने के लिये कुछ दिन लगेंगे। धन्यवाद, मैं बिल्कुल इकदम चंगा हूँ जी। मेरी चिन्ता न कीजियेगा। यहाँ पर औफीसर्स कोई किसी तो कोई किसी बहाने से खसक रहे हैं। कभी-कभी मेरी भी इच्छा खसक जाने की होती है किन्तु फिर यह "कवि चन्द मीच जिहि दिन लिखी तदन काल गहगड्डहै। सबल सिंह रावल कहें भाजे आयु न बड्डहै।" समझ कर रुक जाना पड़ता है। जब तक हुलकी का उपद्रव शान्त न हो जाय तव तक आप यहाँ पधारना स्थगित ही रखें। जब यहाँ पर अमन चैन हो जायगा तब आपको सूचित करूँगा।"

टीकमगढ़—१४-७-३७

" ..... आपने टीकमगढ़ छोड़ जाने की जो शुभ सलाह दी तदर्थ पुनः धन्यवाद। किन्तु सखेद सविनय निवेदन है कि मैं ऐसा करने में असमर्थ हूँ। इस समय प्रजा को मेरी आवश्यकता है। यह मैं जानता हूँ कि न तो मैं उनकी दवा कर सकता हूँ और न कोई उनकी एक्टिव सर्विस ही करता हूँ, और जो प्रबन्ध रोग दूर करने के लिये अभी हो रहा है उसमें मेरे चले जाने से न किसी प्रकार की त्रुटि ही आ सकती है, तव भी मेरे रहने से प्रजा को बड़ा भारी 'मोरल सपोर्ट' है। मेरे रहते हुए भी प्रजा में हताशायुक्त भय फैला हुआ है फिर यदि मैं यहाँ से छोड़कर चला जाऊँ, तब तो उसकी सीमा ही न रहेगी। अतः ऐसे सांकरे में मेरा कर्तव्य मुझे यही बताता है कि मैं यहाँ जमा रहूँ अतः —

"डगमगहिं डिगहिं हिन्दू तुरक, नहिं पहार डुल्लहि डगहि" आशा है आप मेरी असमर्थता को क्षमा करेंगे।

आप को यह जानकर खुशी होगी कि निकट भविष्य में ही हम लोग नगर सफाई का काम हाथ में ले रहे हैं।

रहने दीजिये, आप वहीं अच्छे हैं। यहाँ होते तो न जाने क्या करते। हम लोगों को एक फिकर और आपकी लग जाती। आपको बड़े मौके पर बवासीर उखड़ा बुजुर्ग लोग ठीक ही कह गये हैं कि ईश्वर जो करता है वह सब अच्छे के लिए ही करता है।"

एक आदर्श पत्र

देहली—२२-३-३१

आपने जो मेरी सेवा के विरुद्ध विचार किया और उसमें जो तीन कारण बताये वे मेरी अल्पबुद्धि के अनुसार निर्मूल प्रमाणित हुए। क्रमानुसार उनके कारण भी हैं—

पहिला—आपने लिखा है कि मेरी निर्धन प्रजा का राज्य द्रव्य पर सर्व प्रथम अधिकार है सो अक्षरशः सत्य है। इसमें तनिक भी सन्देह नहीं। किन्तु यह लिखते

समय आप एक बात भूल गये कि मेरी सेवा के बदले जो द्रव्य मुझे राज्य से प्राप्त होता है उस पर केवल मेरा ही अधिकार है। उसे अपने ऊपर व्यय न करके मैं चाहे जिसे दे सकता हूँ और मेरी समझ में इस समय आप की आवश्यकताएँ मेरी जरूरतों से कहीं अधिक हैं, अतः मेरी सेवा को आप अमान्य नहीं कर सकते।

दूसरा—आप को मेरे शिक्षक होने के लिए वेतन मिलता था यह ठीक है। वह मुझे पढ़ाने के लिये और आपके चरणों में जो मेरी श्रद्धा और भक्ति थी उसके लिये आप को क्या मिलता था? भला बताइये तो? उसी भक्ति से प्रेरित होकर यदि यह तुच्छ भेंट सेवा में अर्पण करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है तो ऐसे अलभ्य अवसर को क्यों हाथ से जाने दूं?

तीसरा—आपने जो लिखा कि 'देशी राज्यों की वर्तमान निरंकुश शासन प्रणाली के मैं सर्वथा विरुद्ध हूँ' सो तो हमारा सारा संसार ही विरुद्ध है और मैं उससे बाहिर नहीं। और आपने जो (देशी रियासतों के विरुद्ध आन्दोलन करने वालों से) मित्रता की लिखी सो आप किसी से मित्रता करे रहिये, मेरे पूज्य तो मिटे नहीं जाते। अतः आपका तीसरा कारण भी निर्मूल प्रमाणित हुआ।........

सर्वोत्तम भेंट

टीकमगढ़—२२-१२-३३

........And as for giving me a present, may I say, with your permission of course, that you have already bestowed on me the choicest of gifts—love for mother land and tongue. What more can a man wish for?

अपनी भाषा का एक पत्र

टीकमगढ़ १०-७-३३

" ... . जो मोरी विनती पै ध्यान न दओ जाय और आप के मन में जेइ भर रैइ होय के आं हां करजा चुकाउनेइ है तो जो आप समय-समय पै लेख लिखकें दीनन की सेवा करत रात और जो साहित्य सेवा कर रए ओय से मोरौ करजा पाइ-पाइ के चुक जै। मौ से पूंछत तो ई के सिवा और कौउ तरकीब से मौरो करजा नैइ चुक सकत।

.... होंय चाय के कौउ होंय और वे चाय जो लिखामें पै ऊसे होत का है। जनता की आँखन में धूर डारवो कछू हांसी खेल नैयां। जौ तो संसार है। की की कौ मों पकर लेवी। और फिर बात जा है के काउ के कंय का बुरऔ मानवी। कीचड़ में पथरा फेंकवे से अपनौउ आंग बिगरत।

जा मानी के मोय एक से हजार ठकुर सुहाती कैवे वारै मिल सकत पै मैं खुद उनसे दूर रात। मोय ठकुर सुहाती तनकउ नैइ सुहात। .....

अपुन पूछी है कै हमारौ तुमारौ का रिस्ता है। भला जेइ का कछू पूंछवै की बात है। सेव्य सेवक कौ का रिस्ता होत है?

६
मधुकर शाह की परम्परा

श्रीकृष्ण किशोर द्विवेदी

उस दिन राजकुमार कालेज छात्रों में असाधारण रूप से सनसनी फैल गई। उन्हें प्रिन्सीपल की इस आज्ञा से सूचित किया गया कि कल से कोई छात्र तिलक लगाकर कक्षा में उपस्थित न हो। कालेज में धार्मिक शिक्षा के लिए एक अलग अध्यापक थे। नियमित रूप से छात्रों को वे धर्म की शिक्षा दिया करते थे। छात्रों ने उस शिक्षा से प्रभावित होकर उसे कार्य रूप में परिणत करना प्रारम्भ कर दिया। प्रिन्सीपल को यह बात अत्यन्त अशोभनीय मालूम हुई।

छात्रों पर इस आज्ञा की प्रतिक्रिया भिन्न-भिन्न हुई। कुछ को भय हुआ, कुछ को आश्चर्य और खेद। कुछ छात्रों ने इसको हँसी मजाक में टालना चाहा, परन्तु एक छात्र की मुखाकृति इस आज्ञा को सुन कर गम्भीर हो उठी। वह सोचने लगा, "कैसा अन्धेर है! धर्म जैसी व्यक्तिगत बातों में भी हस्तक्षेप किया जाता है। सवाल यह नहीं है कि तिलकों में कुछ तथ्य है या नहीं, परन्तु किसी के व्यक्तिगत विश्वासों में, केवल क्षणिक प्रभुत्त्व के जोर पर विधि-निषेध का अधिकारिओं को क्या अधिकार है? उसके मन में क्लेश हुआ, वह क्लेश निष्क्रिय नहीं, अपितु किसी निर्णय पर पहुँचने को विवश कर देने वाला क्लेश था। उसने गम्भीरता पूर्वक उस छोटी-सी घटना के पीछे छिपे बहुत बड़े सत्य को देखा और उसका मुख और गम्भीर हो उठा। सहसा एक क्षण में ही उस गम्भीरता के बीच से उसके चेहरे पर दृढ़ता की वज्र दीप्ति छा गई, जैसे घन में बिजली कौंध जाती है। हृदय के अदम्य संकल्प की भावना से उसका मुख मण्डल तेजोमय हो उठा और आभिजात्य के गर्व की रेखायें उस पर उभर आईं। उसने मार्ग-दर्शक के स्वर में कहा, 'ऐसा नहीं होगा।'

—और दूसरे दिन। कुछ छात्रों ने अपने तिलकों को कालेज आने के पहले ही विसर्जित कर दिया और कुछ अहम्मन्य परन्तु समझदार छात्रों ने तिलकों को संक्षिप्त करके कालेज में पदार्पण किया। किन्तु वे यह देखकर दंग रह गये कि उस अकेले छात्र का भाल तिलकों की दूनी आभा से आज दम-दम दमक रहा है।

यह कोई हँसी-खेल नहीं। यह उस समय की बात है जब अधिकारों की लड़ाई जैसी किसी चीज से, खासकर उस कालेज के छात्र परचित नहीं थे और प्रतिरोध करने का अर्थ आज्ञा का उल्लंघन समझा जाता था और आज्ञा भी किसकी? एक सर्व-समर्थ अधिकारी की।

रिपोर्ट हुई। जवाब भी तलब किया गया। उस छात्र ने भी अत्यन्त उपेक्षा के साथ उत्तर दिया, ऐसा नहीं हो सकता। साथ ही यह भी बता दिया कि क्यों नहीं नहीं हो सकता।

बात बढ़ी। बहुत कुछ प्रयत्न किये गए परन्तु उस छात्र का निश्चय दिन-दिन दृढ़-से दृढ़तर—दृढ़तम होता गया। साथ ही उसकी देखा देखी अन्य छात्र भी उसके स्वर से साहस या उत्साह से चंचल हो उठे। उस छात्र ने कहा था, ऐसा नहीं होगा और सचमुच वैसा नहीं हुआ। अधिकारियों को अपनी आज्ञा वापस लेनी पड़ी।

शायद शताब्दियों के बाद उन टिकैत महाराज मधुकर शाह के जीवन की यह घटना उन्हीं के सुयोग्य वंशधर द्वारा दुहराई गई जिनके विषय में किसी कवि ने कहा था :—

हुकुम दियो है पातसाह ने महीपन कौ
मानों रावराजन प्रमान लेखियतु है
चन्दन चढ़ायो कहूँ देव-पद-वन्दन को।
देहों सिर दाग जहाँ रेखा रेखियतु है।
सूनों कर गये भाल छोड़-छोड़ कण्ठमाल
दूसरौ दिनेश तहाँ कौन पैखियतु है।
सोहत टिकैत मधुशाह अनियारो जिमि,
नागन के बीच मनियारौ देखियतु है।

७

स्वर्गीय महाराज श्री वीरसिंह जूदेव

•

स्वर्गीय गौरीशंकर द्विवेदी 'शंकर'

बुंदेलखंडके ओरछा राज्यवंश में श्रीवीरसिंह देव (प्रथम) रणवीर और न्यायवीर होने के साथ-ही-साथ कवितामर्मज्ञ एवं अनेकानेक कवियों के आश्रयदाता थी थे। 'वीरमित्रोदय' जैसा वृहद् संस्कृत ग्रंथ उन्हीं की संरक्षता में मित्र मिश्र ने सम्पादित किया था। इस ग्रंथ की उपयोगिता सर्वमान्य है।

ओरछा नरेश मधुकरशाह से संबंधित कितनी ही ऐतिहासिक घटनाएँ हैं, जिनसे उनकी धर्मनिष्ठा और वीरता का परिचय मिलता है। ओरछा में उनके द्वारा बनवाये गये श्री राम राजा के मन्दिर और उनकी रानी श्री गणेशदे द्वारा अयोध्या से लायी गई मूर्तियां उनकी कीर्ति को युग-युगांतर तक जीवित बनाये रखने के लिए पर्याप्त हैं।

ओरछेश पहाड़सिंह ने कवि-वाणी से प्रभावित हो गोंडवाने को विजय कर गौओं को यातना-मुक्त किया था। नारी की लोक-लाज के रक्षार्थ विषमिश्रित भोजन करके अमरत्व प्राप्त करने वाले हरदौल की गाथाओं से भला कौन परिचित नहीं? तब से अब तक घर-घर और गांव-गांव में विवाह के पूर्व उनका श्रद्धा-भक्ति पूर्वक आवाहन होता है और उनकी स्मृति में अनेक स्थानों में हरदौल के चबूतरे तथा मंदिर बने हुए हैं।

ओरछे की गद्दी पर महाराज विक्रमाजीतसिंह आदि और भी अनेक पराक्रमी नरेश हुए हैं। उसी गद्दी पर बैठकर श्री वीरसिंह जू देव (द्वितीय) ने वंश-परंपरा की प्रतिष्ठा रखते हुए अनेक लोकोपयोगी कार्य किये।

स्वर्गीय ओरछेश श्री वीरसिंह देव के तीन अनुज थे। सर्वश्री कर्णसिंह, जयेंद्रसिंह और महेंद्रसिंह।

बाल्य-काल :

ओरछेश सबसे अधिक स्वस्थ, हृष्ट-पुष्ट और गौरवर्ण थे। बचपन में उनके सिर के चमकीले काले बाल बड़े ही आकर्षक जान पड़ते थे। ओरछेश ने उनके विषय में एक मनोरंजक घटना सुनाई थी—

ओरछेश के वृद्ध पितामह महाराज प्रतापसिंह माघ मेला पर प्रयाग गये हुए थे। साथ में महारानी, परिवार, सरदार और अनुचर आदि भी थे। वहाँ संगम पर सबको सिर मुंडवाते हुए देखकर बालक वीरसिंह ने भी अपना सिर मुंडवा डाला। स्नानादि से निवृत्त हो जब भीतर रनवास में गये तो पितामही (बौआजू) ने देखते ही कहा, "वीरसिंह ! यह तुमने क्या कर डाला ? महाराज देखते ही हम सबकी आफत कर देंगे।"

वीरसिंह ने बाल-सुलभ चपलता के साथ कहा, "बौआजू ! फिकर न करौ, वे तो फिर खूब बड़े हो जायंगे।

इधर भोजन के थाल पर बैठते ही वृद्ध ओरछेश ने इनको अनुपस्थित देखकर आवाज दी, "वीरसिंह !"

ओरछेश ने तत्काल रनवास ही से कहा, "हऔजू ! होंयं भोजन, मैं बौआजू नौं हौं।"

दूसरे दिन महाराज को प्रसन्न-मुद्रा में देखकर स्वयं बौआजू ने ले जाकर उनको महाराज के सम्मुख उपस्थित कर दिया। महाराज ने उनको प्रेम से गले तो लगा लिया, किन्तु अपने आनंदाश्रु न रोक सके।

विद्यार्थी-जीवन :

ओरछेश के पिता, राजाबहादुर श्री भगवंत सिंह का असमय शरीरपात हो गया था। वे गद्दी पर भी नहीं बैठ सके थे, उनके वृद्ध पिता उनके व्यवहार से असन्तुष्ट भी रहते थे, किन्तु बच्चों पर उनका भरपूर स्नेह था।

पिता के पश्चात उनको राजाबहादुर की उपाधि मिली और ये उत्तराधिकारी घोषित किये गये। उन दिनों ओरछेश राजकुमार कालेज (डेली कालेज) इंदौर के छात्र थे, इनके सहपाठी श्री सज्जनसिंह खजूरी उन्हीं दिनों इनके साथी चुने गये थे और राज्य से दो सौ रुपये मासिक जेब-खर्च निश्चित हुआ था। किन्तु जेब-खर्च कुछ महीने ही मिल सका। पश्चात् उन्नीस वर्ष इस मित्र-द्वय ने संघर्षमय जीवन व्यतीत करते हुए किस प्रकार स्वाभिमान की रक्षा की, उसकी एक लंबी कहानी है। उसकी चर्चा यहाँ असंगत होगी। हाँ, इतना अवश्य लिखना पड़ता है कि मतभेद होते हुए भी राजाबहादुर वीरसिंह देव ने वृद्ध ओरछेश के मार्ग में रोड़े नहीं अटकाये। जब-जब उनसे कहा जाता कि राज्य-कोष अनधिकारी व्यक्ति लूटे लिये जा रहे हैं, तब-तब वे हँसकर यही कहते, "जो जिसके भाग्य का है, उसे ले जाने दो। ज़मीन तो बच रहेगी, उसे तो कोई छीन न ले जायगा।"

यही संतोषी प्रकृति उनकी जीवन-पर्यन्त रही। उन्होंने समय-समय पर अपने कितने ही संस्मरण मुझे सुनाये थे। उन सबका उल्लेख यहाँ सम्भव नहीं।
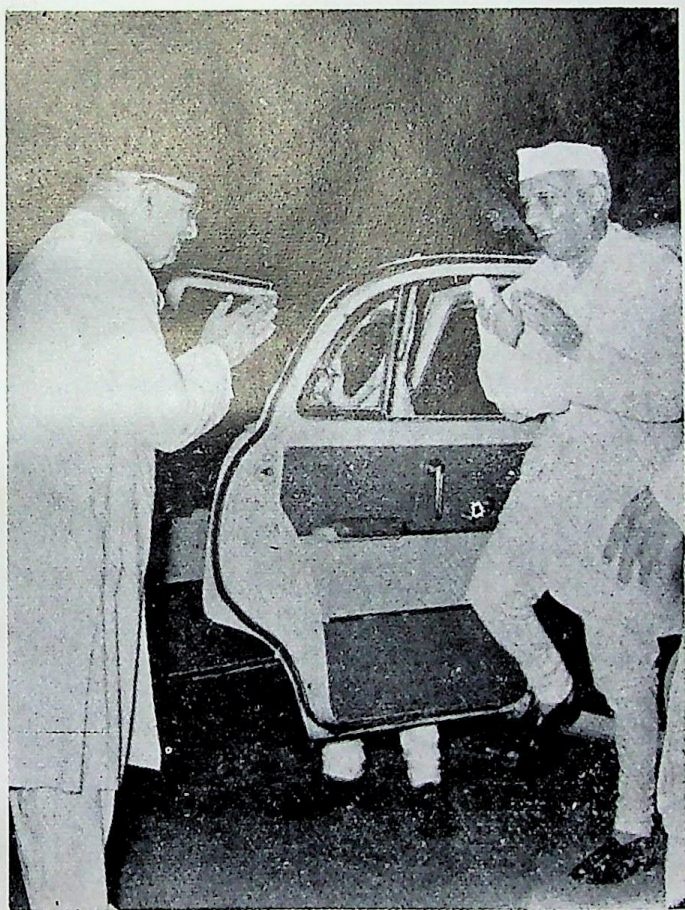
महाराज श्री वीरसिंह जू देव प्रधान मन्त्री पं० जवाहर लाल नेहरू का स्वागत करते हुए ।

राज्य-काल

ओरछा राज्य-भार संभालने के पश्चात् उन्होंने अपनी संतोषी वृत्ति के साथ-ही-साथ सुसंस्कृत विचारधाराओं को भी कार्यान्वित किया। सद्व्यवहार तथा समानता के दृढ़ समर्थक होने के कारण उन्होंने कितने ही प्रतिबंधों को, जिनके कारण जन-सम्पर्क में कठिनाइयाँ आतो थीं, दूर कर दिया। यद्यपि उनके वे परिवर्तन उनके स्वजनों, जागीरदारों, अधिकारियों और अनुचर वृन्दों को पसंद नहीं आते थे, किन्तु उनका विरोध कर सकने की किसी में भी क्षमता नहीं थी। परिणाम यह हुआ कि जन-साधारण में जागृति उत्पन्न हो गयी। ज्ञान का प्रसार होते ही वे अपनी सर्वतोमुखी उन्नति करने लगे और यही ओरछेश को अभीष्ट भी था।

अपने १६-१७ वर्ष के शासनकाल में उन्होंने जनहित के कितने ही कार्य किये और स्वदेश की पुकार पर बुन्देलखण्ड के राजाओं में सबसे पहले राज्य-भार जनता के हाथों में सौंप दिया।

स्वर्गीय ओरछेश की उदारता का परिचय उनके दैनिक तथा राज्य के कार्यों में मिलता रहता था। कभी-कभी वे बाहरी व्यवहार में कठोर भी जान पड़ते थे, किन्तु हृदय उनका नवनीत की भाँति कोमल था। उनकी उदारता की दो घटनाएँ इस प्रकार हैं : ओरछा राज्य में जमींदार की जमीन पर एक मुसलमान सज्जन ने पहले चबूतरा बनाया, फिर कुछ जगह और घेरी। जब जमींदार ने देखा कि मियाँ हाथ-पैर फैलाकर जमीन हड़पना चाहते हैं, तब उन्हें रोका। कार्यवाही आगे बढ़ी। अन्तिम निर्णय के लिए वह मामला ओरछेश के पास आया। खाँ साहब का आवेदन-पत्र लिखने वाला कोई चतुर व्यक्ति था। उसने सब विवरण लिखते हुए अन्त में सुप्रसिद्ध कारे कवि की पंक्तियाँ लिख दीं :

"हिन्दुन के नाथ तो हमारौ कछु दावा नहीं,
जगत के नाथ तौ हमारी सुधि लीजिए॥"

भावुक ओरछेश ने पराजित खाँ साहब को अपने निर्णय में जिता दिया। वह जमीन मसजिद बनाने के लिए उनको दे दी गयी और जमींदार को उस जमीन के बदले में राज्य से जमीन ले लेने के लिए आज्ञा मिल गई।

दूसरी घटना थी जतारा की एक वैश्य विधवा की। तहसील जतारा की इमारत, जिसमें तहसील का कार्य होता था और तहसीलदार रहते थे, उस विधवा की ही संपत्ति थी। तहसीलदार ने अधिक समय से किराया नहीं दिया था। विधवा की अनुनय-विनय भी नहीं सुनी गई, तब उसने दावा कर दिया। कानून के अनुसार सब अदालतों से विधवा हारती गई, यहाँ तक कि तत्कालीन दीवान रावराजा श्री श्यामविहारी मिश्र ने भी विधवा के विपक्ष में ही निर्णय दिया। जब सम्पूर्ण कागजात ओरछेश के समक्ष आये तो उन्होंने विधवा को जिता दिया। उसके जीवन-निर्वाह के

लिए रकम निश्चित कर दी। उनके उस न्याय की प्रशंसा आदरणीय श्री मिश्रजी ने भी की थी।

एक बार ओरछेश के मुँहलगे एक मन्त्री ने शिकायत के ढंग से कहा, "वीरेन्द्र-केशव-साहित्य-परिषद" द्वारा बड़ा अनर्थ हो रहा है, वहाँ कितने ही अखबार आने लगे हैं, बाहर की हलचलें पढ़-पढ़कर यहाँ के लड़के भी कानाफूँसी करने लगे हैं, कुछ कड़ा कदम उठाना होगा।

ओरछेश ने अट्टहास करते हुए कहा, "हजरत ! किस युग की बात कर रहे हैं ? 'परिषद' ने राज्य में नवयुग का संचार किया है। प्रकाश की किरणों से अंधकार अपने आप दूर होता है। उससे अनर्थ नहीं, प्रशंसनीय कार्य हुआ है, राज्य में प्रभात आया है।"

ओरछेश ने 'श्री वीरेन्द्र-केशव-साहित्य-परिषद' को राजकीय संरक्षण दे रखा था। 'परिषद' के कितने ही विभाग तत्परता से कार्य करते थे। उसके देवेन्द्र पुस्तकालय और सुधा वाचनालय से जन-साधारण लाभ उठाते थे और प्रतिवर्ष कितने ही विशेषाधिवेशन भी होते थे।

ओरछा में, जो कि कवीन्द्र केशवदास मिश्र की जन्मभूमि है, प्रतिवर्ष 'केशव-जयन्ती' उनकी जन्मतिथि—रामनवमी—पर समारोहपूर्वक मनाई जाती थी।

हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन प्रयाग को कवीन्द्र-केशव का तैल-चित्र और आर्थिक सहायता भी दी गई थी। झाँसी सम्मेलन को सफल बनाने में ओरछेश और परिषद के कार्यकर्त्ताओं ने भरपूर सहयोग दिया था।

बुँदेलखण्ड-साहित्य-सम्मेलन के निर्माण में भी ओरछेश ने सदैव सहायता प्रदान की।

काव्य-जगत् को प्रोत्साहन देने के लिए ओरछेश ने दो सहस्र रुपये वार्षिक का 'देव-पुरस्कार' देना प्रारम्भ किया था, जो अब भी दिया जा रहा है। 'वीर' और 'सिंह' दो और पुरस्कार प्रतिवर्ष देने की आयोजना वे कर रहे थे, किन्तु दैव को कुछ और ही स्वीकार था !

पाक्षिक 'मधुकर' और त्रैमासिक 'लोकवार्त्ता' ओरछेश ही के संरक्षण में पनपे, फूले और फले। उनका कीर्तिरूपी सौरभ आज भी हिन्दी-जगत् को सुवासित किये हुए है।

'परिषद' के विशेषाधिवेशन, केशव-जयन्ती, विजयादशमी और वसंतोत्सव आदि अवसरों पर हुआ करते थे। इनका सभापतित्व स्वयं ओरछेश ही किया करते थे। सम्मिलित होने वाले कवियों की संख्या भी ३० से बढ़कर ३०० तक पहुँच गई

थी। 'परिषद' और सम्मेलन सम्बन्धी व्यवस्था इन पंक्तियों के लेखक ही को करनी पड़ती थी और उसे ओरछेश का यह आदेश था कि उनकी प्रशंसा में कोई छंद सम्मेलन में न पढ़ा जाय। उनके इस आदेश का कड़ाई के साथ पालन किया जाता था, यद्यपि ऐसा करने में मुझे कितने ही कवियों का कोप-भाजन बनना पड़ता था!

ओरछेश को अपनी प्रशंसा सुनने की लालसा न थी, किन्तु यदि कलात्मक ढंग से कोई कुछ कह देता था तो उसकी वे सराहना भी करते थे। इस सम्बन्ध में दो उदाहरण पर्याप्त होंगे :

सुधा-वाचनालय का उद्घाटन समारोह ओरछेश द्वारा ही हुआ करता था। उसमें श्री सच्चिदानन्द उपाध्याय ने एक दोहा पढ़ा, जिसका यह भाव था कि कीर्ति-कन्या अब भी कुमारी है इत्यादि। समारोह के पश्चात् क्लब में पहुँचते ही उन्होंने कार भेजी—मैं निवृत्त भी न हो पाया था कि ड्राइवर ने कहा, "आपको और उपाध्यायजी को महाराज ने क्लब में याद किया है।" ओरछेश यद्यपि यह जानते थे कि वह दोहा संस्कृत के एक श्लोक की छाया है, फिर भी शब्दावली और पढ़ने की शैली से वे प्रभावित हो गये और उपाध्यायजी की भूरि-भूरि प्रशंसा की।

ओरछेश के सभापतित्व में 'परिषद' का सर्वप्रथम विजयादशमी अधिवेशन बड़े समारोह से मनाया गया। जनता की उपस्थिति तो अधिक थी ही, जागीरदार और अधिकारीवर्ग भी यथेष्ट संख्या में उपस्थित थे। 'सम्मेलन' की खूब सराहना हुई। सब कवियों के पश्चात् इन पंक्तियों के लेखक ने जो छंद पढ़े, उनके प्रारम्भिक अक्षरों से निम्न वाक्य बनता था :

"श्री महाराज श्री वीरसिंहजू देवकी विजय हो।"

कविता समाप्त होते ही ओरछेश ने कविता लेने के लिए हाथ बढ़ाया और फिर मिलने पर उसकी सराहना भी की।

कला और कलाकार का वे सदैव आदर करते थे, दरबार में उनको उचित स्थान देते थे और उनसे जी खोलकर मिलते थे। उनके इस व्यवहार से प्रभावित होकर 'सुकवि' सम्पादक कविवर सनेहीजी ने जनवरी, १९३२ के 'सुकवि' में टिप्पणी देते हुए लिखा था :

बागे मानी की दिखाऊंगा बहार,
मुझसे गर शाहे-सखुन गुस्तर खुला।

पता नहीं, गालिब की आरज़ू पूरी हुई या नहीं, परन्तु इस अवसर पर ओरछापति आगत कवियों से खूब खुले दिल से मिले।

कलाकारों को एकत्रित करने के लिए कुण्डेश्वर के वार्षिक मेले को 'वीर वसन्तोत्सव' का रूप दिया गया था और प्रायः चालीस हजार रुपया वार्षिक उसमें व्यय होता था।

'वसन्तोत्सव' पर गामा पहलवान को अखाड़े में जमीन पर बैठा देखकर ओरछेश ने आते ही कहा, ''रुस्तमे—हिन्द गामा का यहाँ ऐसा अनादर मत करो, उसे कुर्सी दो।''

गामा ने झपटकर ओरछेश के पैर छुए और कहा, ''हुजूर ! मुझे कुर्सी मिल चुकी, इस दरबार में मुझसे गुस्ताखी न होगी। इन चरणों की ही बदौलत इज्जत बढ़ी है। अन्नदाता, जमीन न छुड़ाइए।'' दो नर-शार्दूलों के इस पारस्परिक व्यवहार से कितने ही हृदय पुलकित हो गये।

'परिषद' का प्रचार-कार्य देख-सुनकर उनको संतोष होता था, उन दिनों की एक घटना स्मरण आ रही है :

श्री सज्जनसिंह राज्य के कार्य से गुजरात गये हुए थे। वहाँ के श्रीमान से परिचय कराते हुए जब ओरछा कहा गया तो श्रीमान् ने पूछा, ''वही ओरछा, जहाँ वीरेन्द्र केशव साहित्य परिषद है।'' 'परिषद' से ओरछा का परिचय सुनकर महाराज गद्गद् हो गये।

'बुन्देलखण्ड-साहित्य-मण्डल' की स्थापना के समय बुन्देलखण्ड भर का भ्रमण करने के लिए श्री ठाकुर सज्जनसिंह के साथ इन पंक्तियों के लेखक को भी भेजा गया था। लौटकर स्थान-स्थान का विवरण और मनोवृत्ति का व्यौरा जब उनको सुनाया तब वे कुछ उदास हो गये, किन्तु साहस नहीं छोड़ा। हम सबको धीरज बंधाया और साहित्यिक साधना में संलग्न रहने के लिए निरन्तर उत्साहित किया। फलस्वरूप 'परिषद' रूपी पौधा लहलहा उठा।

स्वर्गीय मुंशी अजमेरीजी को उन्होंने राजकवि बना लिया था और उनकी असामयिक मृत्यु से उन्हें हार्दिक दुख हुआ था। उस समय उन्होंने कहा था, ''मुंशीजी तो रत्न थे, उन जैसा व्यक्ति ''न भूतो न भविष्यति'' ऐसी मेरी धारणा है।''

ओरछेश को कीर्ति लालसा न थी। हिन्दी-साहित्य सम्मेलन का सभापतित्व स्वीकार करने के लिए उनसे कहा गया, किन्तु उन्होंने उसे सधन्यवाद अस्वीकार कर दिया, वैसे वे साहित्य के अच्छे ज्ञाता थे। ब्रज-भाषा, खड़ी बोली, उर्दू एवं जनपदीय कविताओं के तो बड़े ही मर्मज्ञ थे।

''ईसुरी प्रकाश'' (बुन्देली लोक-कवि ईसुरी के गीतों का संग्रह) पर अपने प्राक्कथन में उन्होंने लिखा था :

''....अपने सहज काव्य-प्रेम के सबब, सैकड़ों और हजारों, छोटे और बड़े, दिवंगत और वर्तमान कवियों की काव्य-रचना से निरन्तर परिचय प्राप्त करते रहने पर भी कवि ईसुरी की रचनाओं का मूल्य मेरी दृष्टि से कम नहीं हुआ और मैं इस कवि की रचनाओं की सचाई, सफाई और सादगी का प्रशंसक बना रहा। इस लोक-गीत प्रणेता की रचना में :

'ज्यों-ज्यों निहारिये नेरे ह्वै नैननि,
त्यों-त्यों खरी निकरे-सी निकाई।'

सन् १९३५ में जब मैं हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन की स्थायी समिति में भाग लेने के लिए वर्धा गया था उस समय सम्मेलन के सभापति राष्ट्रपिता बापू के भी निकट से दर्शनों का सौभाग्य प्राप्त हुआ था। लेखक ने बापू की सेवा में अपनी पुस्तक भेंट की थी।

"बुन्देल-वैभव" में ओरछेश का चित्र देखकर महात्माजी ने कहा था, "यह सन्तोषजनक है। ओरछा हिन्दी के लिए बहुत कुछ कर रहा है। वहाँ के नरेश हिन्दी-प्रेमी हैं, ऐसा मालूम होता है।" लेखक ने जब ओरछेश की हिन्दी सेवाओं का विवरण बापू को सुनाया तो वे और भी अधिक प्रसन्न हुए।

ओरछेश में शील की मात्रा इतनी अधिक थी कि उससे उनको असुविधा भी होने लगी थी, किन्तु उन्होंने अपनी प्रकृति नहीं बदली। एक बार जिसे आश्रय दे दिया उसे वे हटा नहीं सके।

ओरछेश ने ऐसे कितने ही अपराधियों के विस्तृत विवरण समय-समय पर सुनाये थे। एक बार तो मैंने उनसे निवेदन कर दिया, "महाराज! आपके अस्वस्थ होने का एक कारण यही है कि आप हृदय में चुभने वाली बातों का अन्त नहीं कर पाते।"

वे हँसकर बोले, "यह मेरी जन्म-जात कमजोरी है।"

मैंने विषय बदल दिया। किन्तु हृदय में उनकी उदारता की गहरी छाप बैठ गई। सामर्थ्य रखते हुए भी जो अपने अपराधियों के प्रति इतना सदय हो, वह असाधारण ही माना जायगा।

पारिवारिक दुर्घटनाओं से ओरछेश दुखित हो गये थे। बचपन उनका अवश्य स्नेह में व्यतीत हुआ पर युवा अवस्था में कितनी ही कठोर परिस्थितियों का सामना करके वे जिन्दादिल बने रहे, राज्य-भार प्राप्त करने पर उन्होंने अपने अनुजों आदि का सदैव ध्यान रखा, किन्तु भाइयों के असमय वियोग के कारण ओरछेश को गहरी चोट लगी थी।

खाने-पीने में ओरछेश जितने ही प्रगतिशील थे, उतना ही मैं पिछड़ा हुआ रहा हूँ। कितने ही अवसरों पर साथ रहना पड़ा, चाय पार्टी आदि में भी सम्मिलित हुआ, किन्तु सिद्धान्त रक्षा में उसको कभी बाधा नहीं पड़ी। उसकी इस कमजोरी की खिल्ली ओरछेश ने प्रारम्भ ही में उड़ा दी थी मजाक में यह कहकर कि "सांसारिक सुखों का उपभोग जिनके भाग्य में बदा ही नहीं, उन्हें भला कैसे मिल सकता है?"

अन्तिम बार अवश्य मुझे केवल फल खाते देखकर उन्होंने कहा था, "अब तो चौथापन है, निपोच छोड़कर मौज से भोजन किया करो।"

ओरछेश जिस पर विश्वास किया करते थे, भरपूर करते थे। एक बार श्री बनारसीदास चतुर्वेदी ने कलकत्ते से आर्थिक सहायता सम्बन्धी पत्र भेजा था और कुछ महीनों बाद दूसरे पत्र में उसकी अनावश्यकता लिखी। इन पत्रों की चर्चा आने पर श्री श्यामबिहारी मिश्र ने दूसरे पत्र को पहले पत्र का स्मरणपत्र माना, किन्तु ओरछेश ने

प्रतिवाद किया और कहा, "चतुर्वेदीजी घुमा-फिराकर बात नहीं करते । मुझसे उनका स्पष्ट व्यवहार है ।"

'विन्ध्य वाणी' में एक लेख छपा था, जिसमें ओरछा के सिपाहियों के विद्रोह की चर्चा थी और ओरछेश पर अनुचित आक्षेप किये गये थे । उसका जब मैंने जिक्र किया तो उन्होंने सखेद कहा था, "संकुचित मनोवृत्ति वाले यह नहीं जानते कि उस आग के भड़काने पर जनता का कितना अनर्थ हो जाता ।"

लेखक ने उनकी उद्विग्नता को देखकर विषय बदल दिया, किन्तु उनके बड़प्पन की हार्दिक वन्दना की ।

ओरछेश को पढ़ने-लिखने का बड़ा ही चाव था । उनका विविध विषयों का ज्ञान इतना बढ़ा-चढ़ा था कि किसी भी विषय को उठाइए, वे उसकी अनेकानेक ज्ञातव्य बतला देंगे । तुलसी, केशव और लोक-कवि ईसुरी की कविताएँ उन्हें अधिक प्रिय थीं । तुलसी-ग्रंथावली का विशिष्ट संस्करण श्री लोकनाथ द्विवेदी सिलाकारी से उन्होंने सम्पादित करवा लिया था और उनकी यह अभिलाषा थी कि उसे अच्छे रूप में प्रकाशित किया जाय ।

केशव और ईसुरी की ग्रंथावली के लिए भी वे मुझसे कहा करते थे । जब-जब मैं उनके दर्शन करता, वे उस कार्य की चर्चा करते और कहते, "अवकाश लेकर अब वैकुण्ठी-वास करो, तब कार्य हो सकेगा ।" 'वैकुण्ठी' उनकी नवीन कोठी का नाम था ।

राज्य-वैभव की बनिस्वत उनको प्रकृति से अधिक प्रेम था । इसीलिए राज्य-काल ही में किले और राजभवन का परित्याग कर नगर से दूर वन में उन्होंने वैकुण्ठी तथा सुधा-सागर का निर्माण कर लिया था । वहाँ पर ही वे स्वाध्याय में अपना समय व्यतीत किया करते थे ।

दिसम्बर में बड़े दिन पर इष्ट मित्रों को वे प्रायः प्रतिवर्ष आमंत्रित किया करते थे । उन दिनों सैर-सपाटे और शिकार के भी कार्यक्रम होते थे । दो बार मुझे भी इन अवसरों पर सम्मिलित होने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था ।

पिछली बार सन् १९५५ में सुधा-सागर की कोठी दिखलाने के पश्चात् उन्होंने वह स्थान भी दिखलाया, जहाँ बैठकर शिकार की जा सकती थी । मैंने कहा, "शिकार के लिए यह स्थान है सुविधाजनक ।" ओरछेश ने अपनी प्यारी बुंदेली भाषा में उत्तर दिया, "हऔजू, इतै आये, बैठे, ठां करी और गगरी जैसी बोरें लयें चले गये ।"

सब साथी हँसते-हँसते लोट-पोट हो गये ।

उसी अवसर की एक घटना और याद आ गई । लोक-कवि ईसुरी की फागों के संग्रह 'ईसुरी प्रकाश' पर प्राक्कथन लिख देने के लिए उन्होंने वचन दिया था, पांडुलिपि भी कई मास से उनके पास पड़ी थी । अतएव पत्र द्वारा स्मरण दिला देना उचित समझा, जिससे इस बार निराश न होना पड़े । मिलने पर जब चर्चा की तो

हंसकर कहने लगे, "पत्र मिल तो गया था, किंतु खोला नहीं है, विचार किया था, अब तो आमने-सामने ही बात होगी, पत्र क्या पढ़ें ?"

कुंडेश्वर के मेले को सन् १९३२ में वीर-वसन्तोत्सव का रूप दिया गया था। उसमें 'श्री वीरेन्द्र-केशव साहित्य-परिषद' का वाचनालय, कार्यालय और कवि-कैम्प भी होता था, उसकी व्यवस्था के निमित्त मुझे भी आना-जाना पड़ता था। इसके लिए सवारी की व्यवस्था भी थी, क्योंकि कुंडेश्वर टीकमगढ़ से चार मील पर है। पर कभी-कभी ऐसा भी होता कि सवारी के अभाव में पैदल ही लौटना पड़ता और विशेष कर उन दिनों, जब कवि-सम्मेलन होता, कवियों का जमघट होता।

एक रात को करीब दस बजे कुंडेश्वर से मैं लौट रहा था। प्रायः आधा मार्ग चल चुका था कि एक मोटर रुकी। मैं पटरी की ओर जाने लगा, किंतु साश्चर्य मैंने सुना, "बिचकौ नईं, इतै आवौ होय।"

जब मैं उनके बराबर बैठ गया तो उन्होंने स्नेहपूर्ण मीठी फटकार दी और मुझे डाकघर छोड़ते गये, मैं उनको धन्यवाद तक न दे सका।

सन् १९३८-३९ में मेरे ज्येष्ठ पुत्र श्री रामेश्वरप्रसाद का विवाह था। प्रीति-भोज में ओरछेश ने सम्मिलित होना स्वीकार कर लिया था। रात्रि के समय जब सब अतिथि एकत्रित हो गये, तब मैं उनको लिवाने के लिए किले में गया। राज-प्रासाद से बाहर आने पर उन्होंने मुझे अपनी ही कार में बिठा लिया और बोले, "मालूम है आज एक लीक और मैंने तोड़ दी।"

मैंने कहा "वह क्या महाराज, मुझे तो नहीं मालूम।"

बोले, "सवाई महेन्द्र जनसाधारण के घर प्रीति भोज में नहीं जाता। यही प्रथा है। मुझसे भी यही कहा गया, किन्तु मैं तो सच्चे स्नेह पर सवाई महेन्द्री तक त्याग कर सकता हूँ। जो एकबार सोच लेता हूँ, वही करता हूँ।"

मैंने बहुत अनुनय-विनय की कि वे ऐसा न करें, किंतु वे अपने वचन पर दृढ़ रहे।

इसी चिरंजीव ने जब मेडिकल कालेज इंदौर में प्रवेश पाने के लिए राज्य के मुख्य मन्त्री श्री ठाकुर सज्जनसिंह द्वारा आवेदन-पत्र भेजा तो ओरछेश ने स्वीकृति दे दी, किन्तु कारणवश वह वहाँ नहीं भेजा जा सका और आवेदन-पत्रादि लौट आये। आवेदन-पत्र पर, जो अब भी सुरक्षित है, ओरछेश ने सुन्दर अक्षरों में आज्ञा दी थी, "श्री द्विवेदीजी की बेवकूफी को पढ़ा दिया जाय।"

प्रचलित मुहावरे और बोल-चाल की भाषा प्रयोग करने के वे पक्षपाती थे। वैसे उनके द्वारा राज्य के प्रत्येक कार्यालय में नागरी लिपि और भाषा का उन्नत रूप में प्रयोग होने लगा था।

दतिया राज्य में जनता ने राज्य के तत्कालीन दीवान श्री ऐनुद्दीन के विरुद्ध आंदोलन उठाया था। उस आंदोलन ने भीषण रूप धारण कर लिया, पोलिटिकल एजेंट और ए० जी० जी० भी दतिया आ गये। तब दतिया नरेश ने सत्परामर्श के

लिए ओरछेश को बुलाया। उन दिनों मैं दतिया ही में था। ओरछेश ने दतिया पहुँचते ही गोविंद निवास में मुझे बुलवाया और परिस्थिति की जानकारी हासिल की। जिस समय ओरछेश के साथ एकांत में हमारी बातचीत चल रही थी, दतिया नरेश श्री गोविंदसिंह दरवाजे पर आकर रुक गये। मैंने ओरछेश से आज्ञा मांगी ओर चलने लगा, किन्तु उन्होंने रोक लिया और दतिया नरेश से कहा "कक्काजू ? आवौ होय, इनकी शंका न करौ, जे अपनई हैं, हमारे हैं, यहाँ पोस्टमास्टर हैं।"

मैं अवाक् होकर उनकी ओर देख रहा था और वे दतिया नरेश का स्वागत कर रहे थे।

इधर कुछ वर्षों से उनका स्वास्थ्य गिर गया था। उपचार के पश्चात् पिछली वार जब वे बम्बई से लौटे तो ललितपुर स्टेशन पर मुझे स्मरण किया। उन दिनों मैं ललितपुर में ही था। वेटिंग-रूप में पहुँचकर मैंने भेंट की। साथ में सवाई महेन्द्र, महारानी और नाती राजा भी थे। प्रायः दो घण्टे विविध विषयों पर विचार-विनिमय हुए, जिनमें-से 'तुलसी-ग्रंथावली', 'केशव-ग्रंथावली', 'ईसुरी-प्रकाश' और 'कवीन्द्र-केशव-स्मारक' विषय मुख्य थे। ओरछेश ने यह भी कहा कि उनकी इच्छा है कि गुजरात की आगामी यात्रा में मैं भी उनके साथ गुजरात चलूं और कविवर गोविंद गिल्ला भाई की कविता का शोध करूँ और उस पर उचित रूप से प्रकाश भी डालूं।

उनकी हिंदी-हित-साधन की कितनी ही आकांक्षाएँ उन्हीं के साथ चली गईं। विगत २७ वर्षों से उनके दीर्घकालीन निकट संपर्क में रहने के कारण इतना मैं निस्संकोच कह सकता हूँ कि राष्ट्र-भाषा हिंदी और मातृ-भाषा बुंदेली का उन जैसा अनन्य भक्त विरला ही होगा।

स्वाभाविक सरसता और निरंतर दानशीलता उनके जीवन के मुख्य ध्येय थे और इसमें वे कहाँ तक सफल हुए, उनके सैकड़ों कार्य उसके साक्षी हैं।

राज्य-वंश में जन्म लेने पर भी उनके हृदय में राजसी ठाट-बाट के प्रति कुछ भी मोह न था, उसे वे बंधन समझते थे और साधारण गृहस्थ के जीवन को अपने जीवन से कहीं अच्छा मानते थे। सामाजिक समानता के प्रबल समर्थक होने के कारण उन्होंने कितनी ही रूढ़ियाँ भी समाप्त कर दी थीं।

जीवन-भर उन्होंने उदारतापूर्वक अनेकानेक आश्रितों, लेखकों, कवियों और क्रांतिकारियों तक को सहायता दी, विद्वानों का हृदय खोलकर आदर किया, राष्ट्र-भाषा हिंदी और अपने जनपद बुंदेलखंड की निरंतर सेवा की।

ओरछे के इतिहास ही में नहीं, भारतीय इतिहास में भी श्री वीरसिंह देव (द्वितीय) का नाम स्वर्णाक्षरों में लिखे जाने योग्य है।
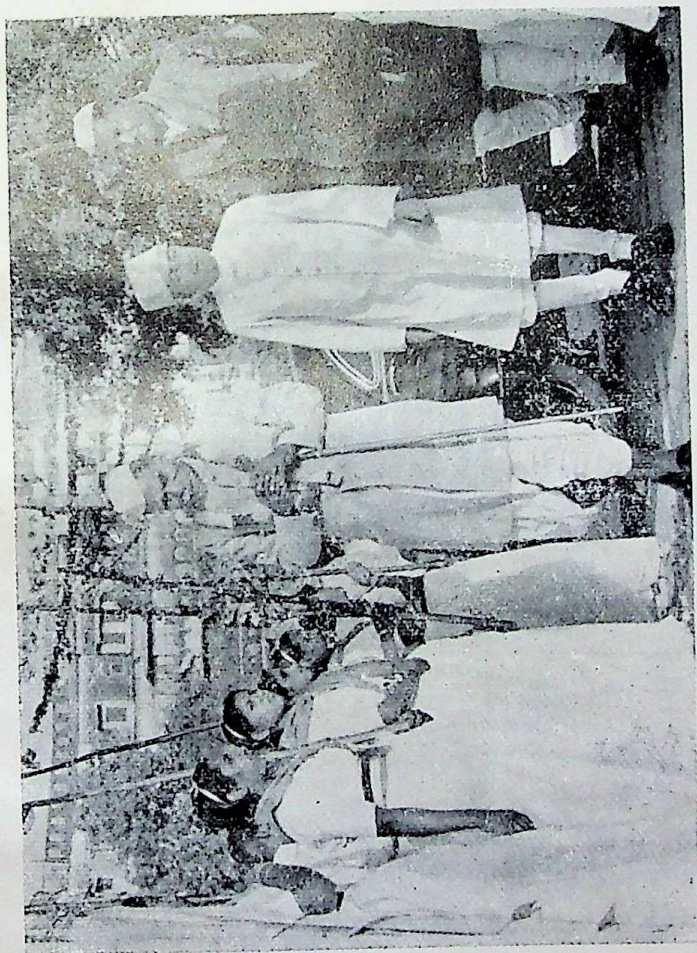
तत्कालीन राष्ट्रपति बाबू राजेन्द्र प्रसाद जी व महाराज श्री वीर सिंह जू देव व लाला राम बाजपेई, तत्कालीन मंत्री विन्ध्य प्रदेश । पीछे टीकमगढ़ का किला ।

८

ओरछेश का काव्य-प्रेम

स्व० बालकृष्ण देव भट्टाचार्य राज गुरु

वीर भूमि ओरछा राज्य वीरता के साथ-ही साथ साहित्य-शिरोमणि भी रहा, जिसने आचार्य केशवदास सदृश साहित्य-गगन के जाज्वल्यमान सितारे उत्पन्न किये। यहाँ के राजा-महाराजाओं का साहित्य-प्रेम किसी से छिपा नहीं।

वर्तमान ओरछेश श्रीमान वीरसिंह देव (द्वितीय) के पिता श्री युवराज भगवन्तसिंह जूदेव ही साहित्य-मर्मज्ञ तथा कवि थे। वह सदैव वीर रस का अध्ययन किया करते थे और उनकी वाणी वीर-रसमयी तथा ओजस्विनी थी। जब वह चन्द बरदाई के 'पृथ्वीराज रासो' का पाठ करते तो सुनने वालों पर आतंक-सा छा जाता और वीरों की भुजायें फड़कने लगतीं। यहीं हाल ओरछेश की पूज्य माता श्री का था। वह भी एक सुयोग्य विद्यानुरागिणी विदुषी थीं। जब कोई कवि आता तो घण्टों कविता का स्रोत बहता। स्व० राजा बहादुर सा० ने तो अध्यात्म विषयक कई छन्द लिखे।

इन्हीं दोनों के गुण हमारे ओरछेश में विकसित हुए। यह कहने में अत्युक्ति नहीं होगी कि भारत के कविता और साहित्य-प्रेमी नरेशों में ओरछेश का प्रमुख स्थान रहा।

मुझे शैशवावस्था ही से इनके तथा इनके पूज्य माता-पिता के सान्निध्य का सौभाग्य प्राप्त हुआ। उनके दैनिक रहन-सहन, शिक्षा, क्रीड़ा, आदि में साथ रहने से उनकी साहित्य-प्रियता और कविता-प्रेम का सदैव परिचय मिलता रहा। ओरछेश की प्रारम्भिक शिक्षा का श्रीगणेश राज्य के सुप्रसिद्ध लेखक, नीतिज्ञ, इतिहासकार, सुयोग्य दीवान राय साहब पं० श्रीरामनेत द्वारा हुआ। उसी समय से उनकी अभिरुचि कविता की ओर बढ़ने लगी। उक्त अध्यापक महोदय ने वार्षिक परीक्षा पर यह नियम रखा था कि जो विद्यार्थी जितने अधिक छन्द मुखाग्र सुनावेगा, उसे एक विशेष पुरुस्कार दिया जाया करेगा। साथ ही उनके जो निरीक्षक नियुक्त हुये वह भी (दिमान बादलजू) कविता-प्रेमी थे, जिनके बनाये हुये ग्राम्यगीत प्रायः गाये जाते थे। रात्रि के समय ओरछेश का एक खासा दरबार लगता था और हम सब सहयोगियों को पृथक-पृथक रस के कवि बन कर कविता में अपना-अपना परिचय देना पड़ता था। इस शैली से ओरछेश की कविता की डायरी या नोट-बुक तैयार

हुई। उसी समय पूज्य माता जी ने रामलीला कराई। यह महोत्सव महीनों मनोरंजन का विषय रहा। रात्रि को जो लीला देखते, उसका अभिनय बाल स्वभावानुसार दोपहर को किया जाता। परस्पर वार्ता में श्रीगोस्वामी जी के दोहे, चौपाई, छन्द आदि रटते और डायरी का कलेवर बढाते। इसी समय से ओरछेश की अभिरुचि गोस्वामी तुलसीदासजी की भक्तिमयी वाणी की ओर आकृष्ट हुई और वह तुलसीदास के अनन्य भक्त हो गये। अनेक बार उन्होंने रामायण का पारायण किया। कविता की ओर उनकी अभिरुचि देख कर इनके पूज्य पिता जी ने राज्य के कवि पं० पीताम्बर भट्ट को कविता की शिक्षा के लिए नियुक्त किया। उन्होंने सर्व प्रथम 'वृत्त-प्रभाकर' और 'मानमंजरी' प्रारम्भ कराई तथा पुराने राजाओं के कवित्त याद कराये और लिखाये। इस प्रकार उनका काव्य-प्रेम उत्तरोत्तर विकसित होता गया। जब पंडित श्रीरामनेत बिजावर के दीवान होकर चले गये तो, उनके भ्राता पं० उपेन्द्रनेत अध्यापक हुये। यह भी साहित्यिक रुचि के व्यक्ति थे। इस प्रकार कविता का भण्डार बढ़ता ही गया। कालान्तर में एक फरसराम-जी मास्टर आये। इन्होंने तो अँगरेजी का व्याकरण हिन्दी के छन्दों में रचकर पढ़ा था।

इसके पश्चात् ओरछेश की शिक्षा डेली कालेज इन्दौर में प्रारम्भ हुई। वहाँ पर पं० बनारसीदास जी चतुर्वेदी जी के सहयोग ने और भी सुवर्ण योग प्रदान किया और वह एक अच्छे लेखक भी हो गये। कालेज के समय प्रायः मुझ से पत्र-व्यवहार रहता था और उनके हिन्दी और कविता-प्रेम का समय-समय पर परिचय मिलता रहता था। एक बार मैंने उन्हें अँग्रेजी में पत्र लिखा, उसके उत्तर में जो शब्द उन्होंने लिखे वे अभी तक मुझे स्मरण हैं। हिन्दी में जवाब देते हुये उन्होंने लिखा, "ज्ञात होता है कि आप अपनी जीवन-यात्रा की रेल में हिन्दी की पोटली भूल गये।" यदि मैं उनके पत्रों का आदि से संग्रह करता तो बड़ी ही मूल्यवान निधि आज पाठकों को प्राप्त होती। प्रत्येक पत्र में कुछ-न-कुछ काव्य छटा अवश्य रहती और कविता लिख भेजने का आदेश रहता। एक बार वह किसी वृद्ध विवाह में सम्मिलित हुए। विवाह के उपरान्त उन्होंने मुझे विवाह का वर्णन पत्र द्वारा लिख भेजा और लिखा कि इतना आनन्द विवाह से नहीं आया, जितना निम्न गीत सुन कर, जो स्त्रियाँ उस समय गा रही थीं, मिला :

१. "डैउढ़ी पै मचल रओ वारो बना।
२. राई भरो बनरा राई भरी बनरी।
काहे पै भार गओ रार। डेउढ़ी पै मचल रओ।"

इस प्रकार ओरछेश का कविता-प्रेम क्रमशः उन्नति करता गया। जहाँ अच्छे छन्द मिलते या सुनते बस स्वयं अपने हाथों से डायरी में लिख लेते और अपने संग्रह में वृद्धि करते रहते। डेली कालेज की पढ़ाई के पश्चात् वह अजमेर कालेज गये। वहाँ उनका श्री चन्द्रधर गुलेरी जी से सम्पर्क हुआ। उससे उनके साहित्य प्रेम को और प्रोत्साहन मिला।

जब कालेज की पढ़ाई समाप्त कर वह टीकमगढ़ पधारे तो बराबर साहित्य-चर्चा होती रहती। राज्य में जितने कवि आते, उनकी कविता बड़े प्रेम से सुनते। ओरछेश से प्रथम विवाह (वढ़वान) के समय राजकवि बिहारीलाल जी बिजावर वाले भी थे। फिर क्या था ! इधर स्पेशल का वेग बढ़ता और उधर कविता का वेग। सारा वातावरण काव्य-रस से ओत-प्रोत हो गया। उधर वर राजा पर रनवास से पुष्प-वृष्टि होती, इधर सुमन-शब्दों की माला गूँथी जाती :

"मानों नई नेह की लता की जड़ सींचबेकों।
आज ऐ आकाश तें सुधा के बुंद बरसै ॥"

विवाह के आनन्द के साथ काव्य की रस-धारा भी महीनों प्रवाहित होती रही। इसी काल में उनकी अभिरुचि संस्कृत साहित्य की ओर आकृष्ट हुई। फिर क्या था। पाणिनी के सूत्र 'इकोयणचि' और 'झलांजणेन्ते' भी कण्ठस्थ कर लिये।

राजनैतिक शिक्षा के लिए जब वह सागर पधारे तो वहाँ भी काव्य-प्रेम से वंचित न रहे और प्रत्येक पत्र में अपनी काव्य प्रियता का परिचय देते रहे। एक बार बक्तवाहे में वह आखेट को गये पर वहाँ से बिहारी के कुछ छन्द मुझे लिख भेजे। काव्य-प्रेम के साथ-साथ स्वयं गद्य और पद्य के अच्छे लेखक थे। उनके कुछ लेख तो हिन्दी गल्पमाला में और पत्र-पत्रिकाओं में संग्रहीत हैं। 'हॉकी' पर उन्होंने एक बार प्रारम्भिक पुस्तिका तथा एक वृहद् ग्रन्थ भी लिखा। पुस्तिका तो प्रकाशित हो चुकी है किन्तु ग्रन्थ अभी अप्रकाशित है। उन्होंने ग्राम्य गीतों का भी पर्याप्त संग्रह किया और उसे अपने ही हाथों से लिखा। इनकी संख्या ३००-४०० से कम न होगी। द्वितीय विवाह के अवसर (गोंडल) पर अनेक कविताओं का संग्रह हुआ। यह लिखना असंगत न होगा कि काव्य-प्रेम उनके रोम-रोम में व्याप्त था। अब एक बार रुग्णावस्था में मुझे लिखते हैं, "स्वास्थ्य कुछ ठीक है। आप बिहारीकृत 'मेघदूत' का अनुवाद भिजवा दीजिये" अर्थात् स्वास्थ्य-लाभ के लिए भी उन्होंने कविता को ही रामबाण औषधि समझा !

शासन का दायित्व ग्रहण करते ही उन्होंने साहित्य-प्रेम की अभिव्यक्ति करते हुये निम्न योजनाएँ घोषित कीं, जो उनकी तथा ओरछा राज्य की कीर्ति को अनन्तकाल तक सुवर्णाक्षरों में अंकित कर उज्ज्वल इतिहास की पूर्ति करेंगी।

१. श्री देवेन्द्र साहित्य विद्यालय
२. श्री वीरेन्द्र केशव साहित्य परिषद्
३. दो सहस्र मुद्रा का देव-पुरस्कार
४. राज्य के विभागों में हिन्दी का प्रचार

ओरछेश के काव्य—प्रेम के फलस्वरूप श्रीमती महारानी साहिबा ने साहित्य-विशारद तथा श्रीमती बाई जू राजा साहब ने विदुषी की परीक्षा उत्तीर्ण की। राज्यारोहण के पश्चात् प्रति वर्ष कवियों का समारोह होने लगा और भारतवर्ष

के विख्यात कवि एकत्र होने लगे। ओरछेश ने कुछ कवियों को स्थायी रूप से आश्रय दिया।

उन्होंने अलंकार का एक ग्रन्थ भी नवीन शैली में निर्माण कर प्रकाशित करना प्रारम्भ किया। उनकी इच्छा रही कि तुलसीदास कृत रामायण का एक ऐसा सचित्र संस्करण निकले, जो अद्वितीय हो।

यदि आपको एक ही समय पर हिन्दी के महान कवियों की कविता का रसास्वादन करना हो, या उर्दू के अनूठे शेरों का आनन्द लेना हो, या ग्राम्यगीतों का गौरव-ज्ञान करना हो तो वह ओरछेश के सान्निध्य से प्राप्त हो सकता था। मन्त्रि-मण्डल की कोई भी ऐसी बैठक न हुई होगी, जिसमें राजकाज के पश्चात् काव्य-पाठ न हुआ हो। अनेक लेखक होते हुए भी वह अपने संग्रह के लिए कविताएँ स्वयं अपने हाथ से लिखते। उनका संग्रह क्या है, 'गुदड़ी के लाल' या 'धूल भरे हीरे' है। कविता के आनन्द में विभोर होकर डायरी का एक-एक अंग विकसित हो गया है। कभी-कभी वह कविताएँ कर बैठते, जो हास्य रस प्रधान और युक्तिपूर्ण होतीं। राजकाज की अनेक उलझनों में ग्रस्त होते हुये भी उनका काव्य-प्रेम दिन दूना बढ़ता ही गया।

६
स्व० महाराज वीरसिंह जूदेव

स्व० पीताम्बर अध्वर्यू

स्व० वीरसिंह जू देव बुन्देलखण्ड जनपद की ओरछा रियासत के अन्तिम शासक थे। उनका निधन सन् १९५६ में हुआ था। अपने छब्बीस वर्ष के शासनकाल में श्री जू देव ने सदा ही समय के साथ चलने का प्रयत्न किया। इस युग में राजनीतिक परिस्थितियाँ तेजी से बदल रही थीं; देश भर में राजनीतिक चेतना फैल रही थी, अंग्रेज शासकों का प्रभाव निरन्तर गिरता चला जा रहा था और सन् १९४७ में स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद तो जबरदस्त परिवर्तन आना स्वाभाविक ही था। स्व० जू देव उन गिने-चुने देशी राजाओं में से थे, जो इन परिवर्तनों से पूर्णतया अवगत थे और तदनुसार ही अपने राज्य की शासन प्रणाली में भी परिवर्तन लाने की कोशिश करते रहे।

सन् १९३० में गद्दी पर बैठने के पश्चात् महाराज वीरसिंह ने रियासत में चलने वाला 'गजाशाही' सिक्का समाप्त करके 'कलदार' चलवाया और राजकीय आदेश निकाल कर रियासत के कृषकों को मुगलिया जमाने के अनेक करों और प्रथाओं से मुक्त कर दिया। इस प्रकार उन्होंने प्रशासन को आधुनिक रूप प्रदान किया।

सन् १९३१ में ही उन्होंने उर्दू के स्थान पर हिन्दी को राज-भाषा घोषित कर दिया था और दृढ़ता के साथ इस घोषणा का राज्य में पालन भी किया। हिन्दी की उत्तम काव्य-रचना पर दो हजार रुपए प्रति वर्ष का देव पुरस्कार प्रदान किया जाने लगा। वह पुरस्कार आज भी मध्य प्रदेश शासन के द्वारा प्रतिवर्ष दिया जाता है।

महाराजा साहब ने अनेक हिन्दी कवियों को आश्रय देकर उनको सम्मानित किया तथा प्रति वर्ष वसंत मेले के अवसर पर आयोजित विशाल कवि सम्मेलनों के द्वारा काव्य-साहित्य की सेवा करते रहे। सर्वश्री मुन्शी अजमेरी, रामाधीन लाल खरे, अम्बिकेशजी, नरोत्तम पाण्डे, डा० शिवनारायण, बिहारीलाल जी, अब्दुलरहमान साहब मंजर आदि कवियों को राज-कवि का सम्मान देते रहे और नियमपूर्वक उन्हें आर्थिक सहायता भी प्रदान करते रहे।

स्व० महाराज वीरसिंह ने सन् १९३१ में टीकमगढ़ नगर में भगवन्त क्लब की स्थापना की। इस क्लब की हॉकी टीम ने अनेक वर्षों तक लखनऊ का रामलाल कप, ग्वालियर का सिन्धिया कप, बम्बई का आगा खाँ कप, कलकत्ता का बाइटन कप, पटियाला का राघवेन्द्र कप तथा टीकमगढ़ का कर्ण सिंह कप जीत कर देश भर की सर्वश्रेष्ठ टीमों पर विजय प्राप्त की! श्री किशन लाल, (जो आज जर्मनी में 'कोच' हैं) रोजारियों आदि भारत की ओलम्पिक हॉकी टीम के अग्रणी खिलाड़ी थे। दादा ध्यानचन्द और मेजर रूप सिंह उन दिनों निरन्तर टीकमगढ़ पधारते थे और महाराज साहब को इस बात का परामर्श देते रहते थे कि भगवन्त क्लब की हॉकी की टीम अच्छी से अच्छी कैसे बने। आज भी टीकमगढ़ में उनके द्वारा चलाई गई हॉकी की परम्परा कायम है और उन्हीं के नाम पर वीरसिंह देव हॉकी टूर्नामिण्ट का आयोजन जनता के द्वारा प्रति वर्ष होता है। इस टूर्नामिण्ट में देश की अनेक प्रसिद्ध टीमें भाग लेती हैं और औलिम्पिक खिलाड़ी आते रहते हैं।

राज्य का प्रशासन जनतन्त्रीय प्रणाली पर आधारित सामूहिक उत्तरदायित्व वाले मन्त्रिमण्डल द्वारा संचालित होता था। राज्य में प्रजामण्डल नामक एक धारा-सभा थी। इसके सदस्य सोलह टप्पों द्वारा निर्वाचित होते थे। उस सभा में महाराजा साहब द्वारा नामांकित सदस्य भी विशेष तत्त्वों का प्रतिनिधित्व करते थे। इस धारा सभा ने लगभग ८३ आवश्यक कानून बनाए थे जो लगभग सभी जनता के हित में थे और विन्ध्य प्रदेश के निर्माण तक राज्य में लागू रहे।

स्व० महाराज ने जनता के आग्रह और देश की बदलती हुई परिस्थितियों को पहचान कर २ दिसम्बर १९४७ को एक वृहत् आयोजन में उत्तरदायी शासन की घोषणा की और राज्य का शासन, सम्पूर्ण खजाने और सम्पत्ति के साथ श्री लालाराम बाजपेयी को मुख्यमन्त्री बनाकर सौंप दिया और स्वयं केवल संवैधानिक शासक बन गए। इस मन्त्रिमण्डल में मुख्यमन्त्री के अतिरिक्त चार अन्य मन्त्री भी थे। मन्त्रिमण्डल के प्रत्येक कार्य की वह सदा पुष्टि करते थे और सराहना करते थे। उन्होंने रियासत की विधान सभा के निर्माण के लिए मतदाता-सूची बनवाकर निर्वाचन का कार्यक्रम प्रारम्भ कर दिया था। स्व० सरदार पटेल की आज्ञानुसार, अपने मन्त्रिमण्डल से परामर्श के बाद महाराज ने ओरछा रियासत के विलीनीकरण के लिये हस्ताक्षर कर दिए थे, जबकि बुन्देलखण्ड के अन्य नरेशों ने विन्ध्यप्रदेश में विलीन होने का तीव्र विरोध किया था। इस कार्य में महाराज ओरछा ही अग्रणी थे। बाद में अन्य नरेश भी अपने-अपने रास्तों से विलीनीकरण में शामिल हुए। इस प्रकार वुन्देल खण्ड और फिर विन्ध्यप्रदेश का निर्माण हुआ।

राज्य विलीनीकरण के पूर्व जब उत्तरदायी शासन भी नहीं दिया गया था, तब बुन्देलखण्ड राज्य निर्माण की एक मुद्रित योजना महाराज ने सभी नरेशों के सामने प्रस्तुत की थी और सबसे पहले अपनी रियासत का अस्तित्व समाप्त करने की

घोषणा की थी। पर अन्य नरेशों के असहयोग के कारण वह योजना साकार रूप न पा सकी।

कैबिनेट मिशन प्लान के अन्तर्गत महाराज साहब ने स्वयं दिल्ली जाकर कैबिनेट मिशन से आग्रह किया था कि भारत को एक ही शासन के अन्तर्गत रहना चाहिए और राजाओं के 'राजस्थान' नाम का कोई राज्य नहीं बनना चाहिए।

स्व० महाराज की इच्छा थी कि विंध्यप्रदेश स्वयं एक न होकर एक ऐसे विशाल प्रदेश का निर्माण हो जो हिन्दी भाषा-भाषी हो और जब राज्य सीमा-आयोग का गठन हुआ तो बुन्देल खण्ड सेवा संघ की ओर से प्रतिवेदन प्रस्तुत किए। उन्होंने सीमा आयोग को टीकमगढ़ आमन्त्रित किया तथा उसके समक्ष अपने तथा अपने सहयोगियों के विचार वर्तमान मध्य प्रदेश के निर्माण हेतु प्रस्तुत किए।

सीमा आयोग की रिपोर्ट और विशाल मध्य प्रदेश के निर्माण की सूचना महाराज को बम्बई में मिली। उन दिनों महाराज अन्तिम बार अपने इलाज के लिए बम्बई गए हुए थे। रोग शैय्या पर लेटे महाराज ने प्रसन्नता प्रकट करते हुए कहा था कि जीवन का एक लक्ष्य प्राप्त हुआ। वे १ नवम्बर १९५६ को मध्य प्रदेश के उद्घाटन के पुनीत पर्व पर नहीं रहे, लेकिन निधन के पूर्व उनकी आत्मा इस लक्ष्य-प्राप्ति पर संतुष्ट एवं सुखी रही होगी।

उत्तरदायी शासन देने के पश्चात् जब मन्त्रिमण्डल ने कुण्डेश्वर की वह कोठी जिसमें उनके गुरु पं० बनारसीदास चतुर्वेदी ने गाँधी भवन स्थापित किया था, लखनऊ के एक उद्योगपति को बेचनी चाही, तो महाराजा साहब ने स्पष्ट शब्दों में यह कहा था कि जो भी चीज, बाग, महल आदि वे अपने गुरु को सार्वजनिक कार्य के लिए वे दे चुके हैं, उसे किसी भी दशा में वापिस नहीं ले सकते। आज भी कुण्डेश्वर का गाँधी भवन बेसिक शिक्षा का एक बड़ा केन्द्र है, जो बुनियादी तालीम का एक अनूठा उदाहरण है और इसका श्रेय केवल स्व० महाराजा साहब तथा मध्य प्रदेश शासन को है।

महाराज का निधन अक्टूबर १९५६ में हुआ। उनके सद्कार्य, उदारता, हिन्दी-प्रेम, जनपदीय तथा सांस्कृतिक कार्य, मधुकर एवं लोकवार्ता का प्रकाशन, देव पुरस्कार का शुभारम्भ एवं संचालन, भगवंत क्लब की प्रसिद्ध हॉकी टीम, सुधा सागर का निर्माण, राज्य शासन की आधुनिक व्यवस्था, शिक्षा का प्रसार, बुन्देल खण्ड एवं विंध्य प्रदेश का निर्माण आदि अनेक ऐसी उपलब्धियाँ हैं जिनको इस जनपद का कोई नागरिक भुला नहीं सकता।

१०

ओरछेश का मानव-रूप

यशपाल जैन

श्रद्धेय बनारसीदास जी चतुर्वेदी के विशेष आग्रह पर जब मैं सन् १९४० के १८ अक्टूबर को कुण्डेश्वर पहुँचा तो वहाँ के प्राकृतिक सौंदर्य ने सहज ही मेरा मन अपनी ओर आकर्षित कर लिया। पर्वत, प्रपात, नदी और वन मेरे जीवन में विशेष स्थान रखते हैं। पर्वत तो वहाँ नहीं थे, पर जमडार नदी की निर्मल जलधारा, उससे निर्मित षड़ानन प्रपात और मधुबन की हरीतिमा ने मुझे उस भूमि पर पैर रखते ही जीत लिया। जमडार के प्रवाह को बाँध कर जिस प्रपात का निर्माण किया गया था, वह कलकल-निनाद करता हुआ एक लम्बे-चौड़े जलाशय में गिरता है। उसी के तटवर्ती विशाल भवन में चतुर्वेदी जी के साथ मेरे रहने की व्यवस्था की गई थी। अपने कमरों में बैठे हुए हम प्रपात का मधुर संगीत सुन सकते थे और उनके गवाक्षों से प्रभात एवं सांध्य काल में वन्य पशुओं को निर्भय विचरण करते अथवा जलाशय में पानी पीते देख सकते थे।

ऐसे रमणीक स्थान पर उस भवन के कल्पनाशील निर्माता के प्रति जहाँ मेरे हृदय में प्रशंसा का भाव उदित हुआ, वहाँ उस व्यक्ति के प्रति कृतज्ञता भी अनुभव हुई, जिसने ऐसी मनोरम स्थली में हमें रहने का अवसर प्रदान किया था।

ओरछा नरेश श्री वीरसिंह जू देव को मैंने पहले कभी नहीं देखा था, पर उनके विद्या-व्यसन, साहित्य-प्रेम तथा उदारता आदि के विषय में बहुत कुछ सुन रखा था। यह भी मुझे पता था कि वे ही चतुर्वेदी जी को कलकत्ता से खींचकर वहाँ लाये थे। राजा-महाराजाओं के प्रति मेरे दिल में एक प्रकार की वितृष्णा की भावना थी। प्रजा पर उनके अनाचार, अत्याचार और अन्याय की कहानियाँ जन-जन की जबान पर थीं। ओरछा के महाराजा अपवाद थोड़े हो सकते हैं, यह बात मेरी अंतश्चेतना में बैठी हुई होने पर भी उनकी परोक्ष छाप जो मुझ पर पड़ी, उसने मुझे कुछ हद तक आश्वस्त कर दिया।

मैं जिस दिन कुण्डेश्वर पहुँचा, संयोग से उसी संध्या को महाराजा साहब टीकमगढ़ से पधारे। चतुर्वेदीजी और मैं उस समय प्रपात के पास बैठे बातें कर रहे थे। किसी ने उनके आगमन की सूचना दी। हम लोग उठकर कोठी की सीढ़ियाँ चढ़ ही

रहे थे कि देखते क्या हैं, एक मझोले कद के प्रौढ़ व्यक्ति मुस्कराते हुए सीढ़ियाँ उतरते नीचे आ रहे हैं। हम ठिठक कर खड़े हो गये। मुझे यह समझते देर न लगी कि वही महाराजा हैं। मेरे आने की सूचना उन्हें शायद पहले ही मिल चुकी थी। निकट आने पर जब मैंने उन्हें नमस्कार किया तो उन्होंने प्रत्युत्तर में हाथ जोड़कर मेरे अभिवादन को स्वीकार करते हुए कहा, "कहिए, यशपालजी, अच्छी तरह से आ गये? रास्ते में कोई असुविधा तो नहीं हुई?"

उन्होंने जो कुछ कहा, वह मात्र औपचारिक नहीं था, उसके पीछे हार्दिकता थी। मैं उनका आभार मानूँ कि उससे पहले ही उन्होंने मेरे कन्धे पर हाथ रख लिया और प्रपात की ओर सीढ़ियाँ उतरते हुए बोले, "कभी कोई कठिनाई हो तो मुझे बताइयेगा।"

यह मेरे लिए अप्रत्याशित था। बुन्देलखण्ड की सबसे बड़ी और सबसे महत्व-पूर्ण रियासत ओरछा के वह शासक थे, पर राजसी वैभव का तनिक भी आडम्बर उनके इर्द-गिर्द नहीं था। इसके विपरीत, उनमें सादगी और सरलता थी। मुझे कुछ विस्मय-मिश्रित हर्ष हुआ। लगा, शासक के अन्दर भी इन्सान हो सकता है। महाराज सा० से मेरी वह पहली भेंट थी, पर ऐसा प्रतीत हुआ, मानो हम एक-दूसरे को वर्षों से जानते हों!

मैं एक महीने के लिए कुण्डेश्वर गया था, पर विधि का विधान कुछ ऐसा हुआ कि मुझे लगभग ६½ साल धर्म, साहित्य और संस्कृति के उस त्रिवेणी संगम पर व्यतीत करने का दुर्लभ सौभाग्य प्राप्त हुआ। ज्यों-ज्यों समय बीतता गया, मेरा मन वहाँ रमता गया। इसमें चतुर्वेदी जी की, जिन्हें आगे चलकर हम लोग 'दादा जी' कहकर सम्बोधित करने लगे, सबके प्रति समानता की दृष्टि, पर-दुख कातरता और दूसरों को बढ़ावा देने की मनोवृत्ति का बहुत बड़ा हाथ तो था ही, लेकिन महाराजा सा० की गुणग्राहकता और प्रेमलता भी कारणीभूत थी। यह कहने में तनिक भी अतिशयोक्ति नहीं होगी कि कुण्डेश्वर के निवास-काल के ६½ वर्ष मेरे जीवन के सर्वोत्तम वर्ष थे।

इस अवधि में महाराजा सा० के कई रूप सामने आये। उन सबका इस लेख के सीमित पृष्ठों में उल्लेख करना सम्भव नहीं है। उनमें कुछ रूप ऐसे भी थे, जो उनके जीवन के दुर्बल पक्ष को उजागर करते थे, लेकिन दुर्बलताएँ किस में नहीं होतीं; मनुष्य इसीलिए तो मनुष्य है, क्योंकि उसमें दुर्बलताएँ हैं, अन्यथा वह देवता न बन जाय। महाराज सा० में भी कुछ कमजोरियाँ थीं, लेकिन उनके समग्र जीवन पर दृष्टि डालने पर उनके गुणों का पलड़ा कहीं भारी था। उनकी अपनी विशेषताएँ थीं। उनका स्मरण करते हुए आज कई चित्र सामने उभर रहे हैं।

एक बार हिन्दी के विशिष्ट प्रकाशक और विद्वान लेखक स्व० नाथूराम जी प्रेमी कुण्डेश्वर आये। उनसे मिलने के लिए महाराजा सा० पधारे। बहुत देर तक

बातें करते रहे। बातचीत के दौरान प्रेमी जी ने कहा, "हमने सुन रक्खा था कि लोक साहित्य के संकलन के लिए यहाँ बड़ा काम हो रहा है। पर यहाँ आने पर देखा तो पता चला कि कुछ भी नहीं हुआ है।"

प्रेमीजी के कहने पर वातावरण एकदम गंभीर हो गया। हम लोग उन्हें उत्तर दें, उससे पहले ही महाराज सा० बोले, "प्रेमीजी, साहित्य और संस्कृति के कामों की जड़ें जमने में देर लगती है। मौलश्री का पेड़ एक दिन में नहीं लग जाता।"

प्रेमीजी आगे फिर कुछ नहीं कह सके। महाराजा सा० का यह उत्तर केवल हमारे बचाव के लिए नहीं था, उनकी यह मान्यता भी थी। अपनी इस मान्यता के कारण ही साहित्य तथा संस्कृति के संवर्धन के लिए उन्होंने अनेक वर्षों तक निरन्तर प्रयत्न किया और लाखों रुपये खर्च किये। 'मधुकर' और 'लोकवार्ता' पर हुए घाटे पर उन्होंने कभी आपत्ति नहीं की।

महाराजा सा० का जन्म राजघराने में हुआ था, पर यह सच है कि उनकी सहानुभूति सदा जन-सामान्य के साथ रही। अपनी रियाया की भलाई के लिए उन्होंने जो कदम उठाये, उन्हें आज भी वहाँ के लोग याद करते हैं। वह मानवीय मूल्यों के उपासक थे। उनका हृदय अत्यन्त स्पंदनशील था। इसी से वह किसी के दुख को देख नहीं सकते थे। आँखों-देखी एक घटना मुझे कभी भूलती नहीं। महाराजा सा० अपने परिवार तथा मित्र-मण्डली के साथ वन भोज के लिए कुण्डेश्वर आये हुए थे। सब मनोरंजन में व्यस्त थे। अकस्मात महाराजा सा० ने देखा कि ललितपुर से आने वाली बस जमडार के पुल से एकदम नदी में गिर पड़ी। दुर्घटना मुश्किल से सौ गज की दूरी पर हुई होगी। पलक मारते, महाराज बिना किसी से कहे, अपनी कार लेकर घटना स्थल पर पहुँच गये और कार की सीटों को अपने हाथ से बाहर पटक कर पीड़ितों को अन्दर बिठा टीकममढ़ के अस्पताल में पहुँचा आये। और शेष पीड़ितों के लेने के लिए तुरंत बस भिजवाई। खैरियत हुई कि नदी में पानी बहुत कम था, पुल भी अधिक ऊँचा नहीं था। इसलिए एक भी मुसाफिर की न तो मृत्यु हुई और न किसी के गहरी चोट आयी पर महाराज ने जो किया, उसका स्मरण करके आज भी रोमाच हो आता है।

उनकी विनोद-प्रियता तो वेजोड़ थी। वह खूब हँसते थे, खूब हँसाते थे। जाने कितने चुटकुले उन्हें याद थे। उनकी वर्णन शैली बहुत ही सरस और रोचक थी। मजाक करने में वह कभी नहीं चूकते थे। हम लोग जैनों के अतिशय क्षेत्र में एक संग्रहालय का निर्माण करा रहे थे। महाराज कुण्डेश्वर आते थे तो हँसते हुए प्रायः पूछते थे, "यशपालजी, संग्रहालय के लिए कितना रुपया इकट्ठा हो गया?" मैं उन्हें बताता तो कहते, "खा जाओ। आखिर मामला अन्त में सबसे बड़ी अदालत में मेरे पास ही तो आवेगा। कह दूंगा कि आपने ठीक किया।" वह इस बात को इस ढग से कहते थे कि हम लोगों की हँसी फूट पड़ती थी।

दो अवसरों पर उनके विनोदी स्वभाव ने मेरी स्थिति अनजाने बड़ी विषम बना दी। किले के पीछे मैदान में एक विराट सभा का आयोजन किया गया था। उसमें महाराजा सा० भी आये। मैं ठीक उनके सामने बैठा। बोलते-बोलते उन्होंने विनोद में कहा, "मेरे राज्य में सबसे ज्यादा जुल्म जैनी लोग किया करते हैं। वे साहूकारी करते हैं। लोगों को ब्याज पर रुपया देते हैं और उन्हें चूसते हैं।" फिर शरारत से मेरी ओर देखते हुए बोले, "क्यों यशपालजी ?" वह इतना कहकर ही नहीं रुके। आगे बोले, "जैनी लोग कहते हैं, हम जीव हत्या करते हैं, वे हम पर हिंसक होने का दोष लगाते हैं। पर वे यह नहीं देखते कि हम पशु-पक्षियों को मारते हैं तो उनमें जो नई किस्म के या बहुत अच्छे होते हैं तो उन्हें मसाले से भरवा कर म्यूजियम में रखवा देते हैं। उनसे लोगों का ज्ञानवर्द्धन होता है। क्यों, यशपालजी ?"

मुझे काटो तो खून नहीं। हजारों आदमियों की उस सार्वजनिक सभा में मैं खड़े होकर उनकी बात का प्रतिवाद भी तो नहीं कर सकता था। सभा के विसर्जन पर महाराज चले गये, पर जैन समाज के धनी-धोरियों ने आकर मुझे घेर लिया और आड़े हाथों लिया। मैंने उनसे कहा, "आप लोग भी तो यहाँ मौजूद थे। आपने खड़े होकर महाराज की बात का खण्डन क्यों नहीं किया ? फिर जो बातें उन्होंने कहीं, क्या उनमें सच्चाई नहीं थी ?"

एक दूसरा अवसर था महावीर-जयन्ती का। जैन समाज के कुछ लोगों ने आग्रह किया कि महाराज को महावीर जयन्ती में बुलाना चाहिए। हमने उन्हें समझाया कि समारोह का समय रात का है और वह महाराज का पीने का वक्त होता है। इसलिए उन्हें बुलाना ठीक नहीं होगा। लेकिन लोग नहीं माने। उनका कहना था कि महाराज अन्य धर्मावलम्बियों के समारोहों में बराबर जाते हैं। यदि हमारे समारोह में नहीं आवेंगे तो जैन-समाज की हेठी होगी। जो, हो, महाराज को बुलाया गया और वह आये। आते ही उन्होंने मुझसे कहा, "यशपाल जी मुझे कुछ पाइंट लिख दीजिये, जिसके आधार पर मैं बोल दूंगा।" मैंने उसी समय कुछ लिखकर पर्चा उन्हें थमा दिया। भाषण होने लगे। बाहर के कुछ जैन विद्वान आये थे। उनमें से एक ने महावीर के जीवन पर प्रकाश डालते हुए कहा कि हमें संयम का जीवन व्यतीत करना चाहिए। एक दूसरे वक्ता ने अनेकांत के सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हुए कहा कि जहाँ छाया है, वहाँ प्रकाश नहीं, जहाँ प्रकाश है, वहाँ छाया नहीं। सब बोल चुके तो महाराज के बोलने की बारी आयी। उन्होंने मेरा दिया हुआ पर्चा हाथ में ले लिया और जिस वक्ता ने संयम की बात कही थी, उन्हें सम्बोधित करते हुए कहा, "आप कहते हैं, जीवन में संयम होना चाहिए। क्या मतलब है आपका ? बोलिए..." फिर दूसरे वक्ता की ओर संकेत करते हुए बोले, "आपने कहा, जहाँ छाया है, वहाँ प्रकाश नहीं, जहाँ प्रकाश है, वहाँ छाया नहीं। मैं पूछता हूँ, आपने इसमें नई बात क्या कही ?" महाराज ने अपने सिर पर से टोपी उतार ली और एक हाथ से सिर को

थपथपाते हुए बोले, "अरे, जैनियो, खोपड़ी से काम लो।" उन्होंने और भी बातें कहीं और जैन समाज को खूब लताड़ा।

मजे की बात यह हुई कि मेरा पर्चा बराबर उनके सामने रहा। लोगों को भ्रम हुआ कि मैंने ही उन्हें ऐसी-वैसी कुछ बातें लिखकर दे दी हैं। इसलिए वे यह तो भूल गये कि महाराज ने जो कुछ कहा, वह नशे में कहा था, महाराज के जाते ही उन्होंने मुझे पकड़ लिया, "आपने यह क्या लिखकर दे दिया महाराज को ?" उन लोगों ने एक स्वर में कहा संयोग से महाराज जाते समय मेरा पर्चा मसनद के नीचे छोड़ गये थे। मैंने निकालकर उन्हें दिखा दिया। उस पर भगवान महावीर के जीवन और सिद्धान्तों के बारे में कुछ बातें थीं।

बाद में जब मैंने महाराज को सारी बात बताई और कहा कि आपने मुझे बड़ी नाजुक स्थिति में डाल दिया तो वह खूब हँसे। बोले, "मैंने जो कुछ किया था, जान बूझकर किया था। अपनी बला आपके सिर डाल दी थी।"

उनके विनोद की एक घटना और याद आती है। मैं कुण्डेश्वर छोड़कर दिल्ली आ गया था। एक बार टीकमगढ़ जाने का प्रसंग आया। मैं वहाँ गया और महाराज से मिला। वह उन दिनों अपनी छोटी-सी कोठी बैकुण्ठी में रहते थे। झूले पर बैठे थे। पास की कुर्सी पर उन्होंने मुझे बिठाल लिया। दिल्ली के समाचार पूछते रहे। इतने में उनके नौकर ने शराब लाकर रख दी। हम दो ही जने थे। महाराज ने मुस्कराकर मेरी ओर देखा बोले, "यशपालजी, आज पीलो। यहाँ कौन देखता है। देख भी लेगा तो आप दिल्ली चले जायेंगे। लो पीलो।

मैंने उत्तर दिया, "महाराज, ऐसा शुभ काम यों ही थोड़ा किया जाता है। इसके लिए एक समारोह करना होगा, उसमें दीक्षा लेनी होगी।"

मेरे यह कहने पर वह खूब हँसे। बोले, "आप जैनी लोग क्या खाकर इसे पीओगे।" फिर इधर-उधर की बातें करके बोले, 'साथ खाना खाकर जाइये।' खाना खाने बैठे तो उन्हें फिर शरारत सूझी। बैरे को आँख का इशारा करके मेरे पास कुछ परोसने को भेजा। मैंने पूछा, "क्या है ?" वह बोला, "मछली।" महाराज ने मुस्कराकर उसे डांटते हुए कहा, "इधर आ। इतनी बढ़िया चीज कहाँ गलत जगह ले गया ?"

अपने जीवन में उन्होंने अनेक उतार-चढ़ाव देखे, परिवार में बहुत सी सुखद घटनाएँ हुई, अपने राज्य के विलय पर हस्ताक्षर किये, कई निकट के संगी-साथियों का विछोह सहन करना पड़ा, लेकिन उनके विनोदी और फक्कड़ स्वभाव में कोई अन्तर नहीं आया। उनकी मस्ती जीवन के अन्तिम क्षण तक यथावत रही। वह साहित्य को प्यार करते थे, संस्कृति के उपासक थे, लेकिन इन सबसे अधिक महत्व वह जीवन को देते थे। ईला विल्फाक्स की ये पंक्तियाँ उन पर सोलहों आने सही बैठती थीं ?

बड़ा सुगम है उन घड़ियों से पुलकित रहना,
जबकि प्रवाहित हो जीवन की धारा ऐसे,

जैसे मुखर हो रहा हो संगीत मधुर
पर असली तो मर्द वही है,
जो कि रहे हँसता मुस्कराता
सर्वनाश की घड़ियों में भी।

महाराज साहब ऐसे ही जवांमर्द थे।

अन्तिम भेंट उनसे दिल्ली में हुई। वह यहाँ आये थे और कनाट सर्कस के एक होटल में ठहरे थे। मुझे मालूम हुआ तो मैं उनसे जाकर मिला। बातचीत के दौरान मैंने "कहा, महाराज सा० घर पर साथ चाय नहीं पीवेंगे?"

अपनी चिर-परिचित मुस्कराहट के साथ वह बोले, "क्यों चाय पिलाने का मन नहीं है।?"

मैंने कहा, "है, तभी तो आपसे निवेदन कर रहा हूँ।"

बोले, "जरूर चलूंगा। पर मैं यहाँ का भूगोल नहीं जानता किसी को भेज दीजिए।"

कहने की आवश्यकता नहीं कि अगले दिन महाराज ने मेरे दरियागंज-निवास पर पधारने की कृपा की। कई साहित्यिक मित्र उपस्थित थे। महाराज सा० दो-ढाई घण्टे उन्हें अपने जीवन के अनुभव सुनाते रहे। उन्होंने एक शब्द भी अपनी प्रशंसा में नहीं कहा। अपने जीवन की मनोरंजक घटनाएँ सुनाकर सारे वातावरण को स्निग्ध बनाते रहे। जब जाने लगे तो मुझे बराबर के कमरे में ले गये और मेरे कंधे पर हाथ रखकर बड़े वात्सल्य से उन्होंने कहा, "यशपाल जी, यहाँ आपको कोई कष्ट तो नहीं है।" उस घड़ी ममता का जो भाव उनके चेहरे पर उमड़ा, उसे मैं जीवन में कभी नहीं भूल सकता। मैंने उनका आभार माना और उन्हें बिदा किया। वही उनसे अंतिम साक्षात्कार था।

महाराज सा० बड़े कठोर शासक थे, पर उतने ही तरल मानव थे। उनके शासन-काल में उनका राज्य अपनी उन्नति के चरम शिखर पर था। साहित्य और संस्कृति के सम्वर्धन के लिए उन्होंने अनेक कवियों को अपने यहाँ प्रश्रय दिया, वीरेन्द्र केशव साहित्य परिषद की स्थापना की, देव पुरस्कार चालू किया, जो उस समय का सबसे बड़ी राशि का पुरस्कार था, मधुकर (पाक्षिक) और लोकवार्ता (त्रैमासिक) का प्रकाशन कराया, क्रांतिकारियों को, गोरे शासकों की परवा न करके, बड़ी निडरता से अपना यहाँ शरण दी, इन तथा ऐसे ही लोकोपयोगी कार्यों के पीछे उनके प्रखर मानव का स्वर मुखरित होता था। छोटे-बड़े, ऊँच-नीच, धनी-निर्धन के बीच भेद नहीं करते थे, सबसे मिलते थे और दिल खोलकर मिलते थे। उनमें दंभ नहीं था। उनसे बातचीत करते समय कोई कल्पना भी नहीं कर सकता था कि वह इतने बड़े राज्य के अधिपति से संभाषण कर रहा है। जिस प्रकार वह स्वयं स्वाधीनता-पूर्वक

बात करते थे, वैसे ही करने का दूसरों को भी अवसर देते थे। उन्होंने कभी स्वाकीनता-पूर्वक बात किसी के काम में हस्तक्षेप नहीं किया।

उनका स्वभाव जितना प्रगतिशील था, उतना ही उनका मस्तिष्क उर्वर था। नित नये विचार उनके मन में उठते रहते थे। वह बड़े ही कल्पनाशील थे। यदि उतने ही दूरदर्शी सहयोगी उन्हें मिल गये होते तो आज विंध्य-प्रदेश का भाग्य ही कुछ और होता।

ओरछेश चले गये, लेकिन उनके मनुष्यत्व और मानव मूल्यों के प्रति उनकी गहन आस्था की गाथाएँ चिरकाल तक लोगों के दिलों पर अंकित रहेंगी।

११

ओरछेश का निजी पुस्तकालय

•

कृष्णानंद गुप्त

एक निजी पुस्तकालय—विशेषकर एक प्रबुद्ध एवं सतत जागरूक व्यक्ति का पुस्तकालय; एक ऐसे व्यक्ति का पुस्तकालय जो सद्ग्रन्थों का प्रेमी ही नहीं, उनका पुजारी भी हो—एक जीवन्त वस्तु है। आप कह सकते हैं कि वह अपने मालिक के सम्पूर्ण बौद्धिक जीवन, उसके पूरे चरित्र, तथा उसकी विभिन्न रुचियों और प्रवृत्तियों का एक सजीव प्रतिबिम्ब है।

किसी सार्वजनिक पुस्तकालय के विषय में यह बात नहीं कही जा सकती। वहाँ अलमारियों में जो पुस्तकें बंद रहती हैं, वे एक परकीया की भाँति थोड़े निश्चित समय के लिए अपने प्रेमी पाठक का मनोरंजन करती हैं, तत्पश्चात् उसे तुरन्त भूल भी जाती हैं। कोई स्थायी लगाव किसी एक पाठक के साथ उनका नहीं होता। वे सबको समान भाव से देखती हैं, और सबके लिए समान रूप से उनका रसकोश खुला रहता है। निस्संदेह यह उनके लिए एक प्रशंसा की बात है। किन्तु उनसे कौन कितनी तृप्ति पाता है, इसका कोई हिसाब वे नहीं रखतीं। सबकी ओर से वे यह नितान्त निरपेक्ष और निःसंग रहती हैं।

निजी पुस्तकालय की पुस्तकें अपने स्वामी को कभी भूलती नहीं। वे आपके प्रत्येक मृदुल अथवा कठोर स्पर्श को कंजूस के धन की तरह अपने पृष्ठों में सुरक्षित करके रखती हैं। वे स्वयं अपने विषय में उतना नहीं कहतीं, जितना आपके विषय में। आप अविच्छिन्न भाव से उनके साथ जुड़े हुए हैं। वास्तव में एक निजी पुस्तकालय को देखकर एक व्यक्ति की रुचियों, खामख्यालियों, और उसके मानसिक क्रमविकास का पूरा इतिहास लिखा जा सकता है। निस्संदेह यह कार्य अत्यन्त मनोरंजक है। किन्तु वर्तमान स्थिति में मेरा वह उद्देश्य नहीं है। मैं इस समय लिखने बैठा हूँ ओरछेश की लाइब्रेरी पर जिसके लिए विशेष रूप से मुझसे कहा गया है। मेरे वैसा करते समय यदि आप उसके अन्दर ओरछेश को देख सकें तो मेरे लिए यह एक संतोष की बात होगी। उनके व्यक्तित्व के एक विशेष अंग की झलक पाकर आप प्रसन्न होंगे।

प्रारम्भ में ही कह दूं कि ओरछेश का पुस्तकालय कोई बहुत बड़ी जगह में नहीं है। एक छोटे हवादार और प्रकाशयुक्त कक्ष में विविध विषयों के चुने हुए ग्रन्थ तरतीब से लगे रखे हैं। चुने हुए—यह एक विशेष उल्लेखनीय बात है। वे पुस्तकें वहाँ सजावट की नहीं, निरन्तर आनन्द और उपयोग की वस्तु जान पड़ती हैं। उनको देखते ही आपको ऐसा लगेगा कि इन सब पुस्तकों का अधिकारी जो कुछ भी पढ़ता है, वह केवल शुष्क ज्ञान के उपार्जन के लिए नहीं, बल्कि आनन्द के लिए भी; फिर चाहे वह कोई कहानी-संग्रह हो, चाहे किसी मछली की दिनचर्या का वैज्ञानिक विवेचन।

इसलिए चाहे जिस प्रकार की पुस्तकें आपको वहाँ देखने को नहीं मिलेंगी। जो पठनीय नहीं, वह संग्रह-योग्य भी नहीं, ऐसा ओरछेश का सिद्धान्त जान पड़ता है। इस कारण उनकी लाइब्रेरी में जाकर बैठने से मन में कोई उलझन या घबराहट पैदा नहीं होती। आपको कदापि ऐसा नहीं लगेगा कि क्या पढ़ा जाये, और क्या नहीं। सभी कुछ वहाँ मनोयोगपूर्वक पढ़ने योग्य है। सभी कुछ रसप्रद है।

संसार के श्रेष्ठ उपन्यास—लेखकों की रचनायें आपको वहाँ मिलेंगी। कई तरह के कहानी-संग्रह भी, खास कर हास्यरस की कहानियों के संग्रह। किन्तु आप तुरन्त कहेंगे कि ओरछेश की रुचि अवश्य बहुत व्यापक है। आखेट, प्रकृति-विज्ञान, मछली का शिकार, फोटोग्राफी, यन्त्र-विज्ञान और चित्रकला, ये उनके मनोरंजन के प्रिय विषय हैं। आप उन्हें अपने अवकाश के क्षणों में सदैव कुछ-न-कुछ पढ़ते पायेंगे। इन पंक्तियों के लेखक ने जब कभी उनसे प्रश्न किया—"आजकल आप क्या पढ़ रहे हैं?" तभी कुछ इस तरह का उत्तर मिला, "आजकल तो गॉल्फ का अध्ययन हो रहा है।" अथवा "मछली के शिकार पर एक नई पुस्तक आई है, उसे ही पढ़ रहा हूँ।" अथवा "अनातोले फ्रान्स की एक रचना अभी समाप्त की है।" परन्तु आश्चर्य की बात नहीं, जो आप उन्हें कभी यन्त्र-विज्ञान अथवा प्राणि-शास्त्र-सम्बन्धी किसी गम्भीर समस्या का उस विषय के किसी ग्रन्थ में मनोयोगपूर्वक अध्ययन करते हुए पायें। वे प्राय: आधी-आधी रात्रि तक पढ़ा करते हैं।

सद्‌ग्रन्थों से, विशेषकर कुछ ऐसे विषयों से, जिनके ग्रन्थ ओरछेश की लाइब्रेरी में संगृहीत हैं, मुझे भी विशेष प्रेम है। अतएव स्वाभाविक रूप से यह स्थान मेरे लिए अत्यधिक आकर्षण रखता है। मैं सदैव वहाँ जाने का कोई-न-कोई बहाना ढूंढ़ता रहता हूँ। ओरछेश भी इसे जानते हैं। इसलिए मेरे पहुँचने पर अपना मूल्यवान समय देने की कृपा करते हैं और गपशप करने लगते हैं। उनकी लाइब्रेरी के उस सुन्दर सुसज्जित कक्ष में बैठकर उनसे वार्तालाप करना एक सतत आनन्द का विषय है। ज्ञान के उस मन्दिर में श्री समेत अभय और आतिथ्य का एक अनिर्वचनीय वातावरण आप पायेंगे। और यदि वहाँ के पुजारी के रूप में स्वयं ओरछेश आपकी अभ्यर्थना के लिए मौजूद हों तो फिर पूछना ही क्या। सोने में सुहागे की बात चरि-

तार्थ हो जाती है। बड़े उत्साह और हर्ष के साथ वे आपको अपनी लाइब्रेरी की सैर करायेंगे; एक-एक करके अपने कुछ प्रिय विषयों के ग्रन्थों को हाथ में लेकर उनका परिचय देते हुए वे आपसे कहेंगे, "देखिये यह वुडहाउस है। पूरी अलमारी। हास्यरस का एक बहुत बढ़िया लेखक।" फिर कहेंगे, "मुझे बहुत पसन्द है। वल्गर हुए बिना आपको खूब हँसाता है।" और उसके पढ़ने का विशेष आग्रह आपसे करेंगे। (और एक बार उन्होंने सचमुच ही वुडहाउस की एक रचना मुझे पढ़ने को दे दी।) "और यह सैपर है। एडवेंचर की कहानियाँ लिखने में बेजोड़; यह कैनन डॉयल; ये एन्ड्रयू लैंग द्वारा सम्पादित देश-विदेश की पूरी-कहानियों के संग्रह।" यहाँ एक पुस्तक हाथ में लेकर कहेंगे—"देखिये, कई जिल्दें हैं। बड़ी मनोरंजक हैं। अंग्रेजी मैंने इनको पढ़कर ही सीखी है। इस कारण मैं इन्हें बहुत सम्मान की दृष्टि से देखता हूँ। ये मुझसे दो बार खो चुकी हैं। यानी जिन सज्जन को दीं; उन्होंने लौटायी नहीं। तीसरी बार मँगाई हैं। मुझे अब भी इनके पढ़ने में आनन्द आता है। वास्तव में मुझे इसी प्रकार की सरस रचनाएँ पसन्द हैं। ट्रेजिक कहानियाँ मैं नहीं पढ़ता। जीवन में यों ही बहुत ट्रेजेडी भरी पड़ी है।" वे आपसे सहसा गंभीर होकर कहेंगे।

यहाँ एक मनोरंजक मनोवैज्ञानिक तथ्य का उल्लेख अपनी तरफ से करना चाहता हूँ। संसार में जितने भी शासक, सेनापति और महान व्यक्ति हुए हैं, प्रायः उन सबको अद्भुत एवं अलौकिक घटनापूर्ण कहानियाँ और उपन्यास प्रिय रहे हैं। लार्ड किचनर परियों की कहानियाँ सिरहाने रखकर सोता था। महारानी विक्टोरिया को 'एलिस इन वण्डरलैंड' नामक बाल साहित्य की विख्यात कहानी पुस्तक बहुत पसन्द थी।

"अच्छा, यह रुडयार्ड किपलिंग, यह स्टीवेन्सन, यह ऑस्कर वाइल्ड, यह डिकेन्स, यह विक्टर ह्यूगो, मतलब यह कि इधर इन अलमारियों में सब उपन्यास लगे हैं।—यह अनातोले फ्रान्स,[1] मुझे पसन्द अवश्य है। किन्तु थोड़ा स्केपटिक है।" ओरछेश आपसे कहेंगे।

और फिर आगे बढ़ते हुए,

"ये कुछ जीवन-चरित हैं और ऊपर आप जो ये पुस्तकें देख रहे हैं वे मेरी खरीदी नहीं, मेरे एक मित्र की भेंट हैं। मैंने उनको अब तक नहीं पढ़ा। मैं ऐसी रचनायें ही पढ़ता हूँ जो मुझे अच्छी लगती हैं; और ऐसी ही खरीदता भी हूँ।— यह गॉल्फ साहित्य—।"

"ये बौद्ध धर्म और दर्शन सम्बन्धी कुछ ग्रन्थ हैं। ये 'ओशन ऑफ स्टोरी' की आठ जिल्दें – संस्कृत साहित्य के प्रसिद्ध ग्रन्थ 'कथा-सरित्सागर' का अंग्रेजी अनुवाद।

---

१ देखकर मैं खुश हो गया था, मुझे भी अनातोले फ्रान्स बहुत प्रिय है। उसे मैं अपना साहित्यिक गुरु मानता हूँ। लेखक—

किन्तु यह कोरा अनुवाद नहीं। इसकी टीका-टिप्पणियों और प्रत्येक जिल्द की विद्वतापूर्ण भूमिका पढ़कर तबियत खुश हो जाती है।" और हिन्दी में इस प्रकार के अनुसंधानपूर्ण ग्रन्थों के अभाव पर वे अपना आन्तरिक खेद प्रकट करेंगे। आश्चर्य नहीं, जो उन आठ जिल्दों के हिन्दी अनुवाद के लिए वे आपको प्रेरित भी कर बैठें।

"ये कुछ फोटोग्राफी की किताबें हैं। यह ड्राइंग और चित्रकारी।" और एक मोटी किताब की ओर संकेत करके कहेंगे, "यह जो बड़ी-सी पुस्तक आप देख रहे हैं उसमें संसार के कुछ महान् चित्रकारों के बने चित्र हैं। ये भारतीय शिल्प और चित्रकला पर हैवल के दो ग्रन्थ। यह पन्द्रह जिल्दों में संसार की श्रेष्ठ कहानियों का संग्रह। ये पंच लाइब्रेरी की बीस जिल्दें।" और आपसे कहेंगे, "'पंच' तो आप जानते ही होंगे। हास्यरस का सुप्रसिद्ध पत्र। पिछले सौ वर्ष के अंदर उसमें हास्य के जो सैकड़ों लेख, चुटकुले और कार्टून प्रकाशित हुए हैं, यह उन सबका चुना हुआ संग्रह है। अवश्य पढ़िए, पढ़ने योग्य है।"—यह कहकर वे उसे पढ़ने के लिए आपको उत्साहित करेंगे।

"और ये 'अरेबियन नाइट्स' की जिल्दें हैं, रिचार्ड बर्टन का किया हुआ 'अलिफ लैला' का सुप्रसिद्ध अंग्रेजी अनुवाद। ये 'मिथ एण्ड लीजेंड्स' नाम से संसार के विभिन्न देशों की पौराणिक कथाओं की जिल्दें हैं। उधर ये पक्षि-शास्त्र-सम्बन्धी कुछ ग्रन्थ लगे हैं, अधिकांश में भारतीय पक्षियों पर हैं।" पक्षियों के अध्ययन से उन्हें विशेष प्रेम है। वे आपको बतायेंगे।

और फिर वे आपको लाइब्रेरी कक्ष के दूसरी ओर ले जायेंगे, जहाँ कुछ खास-खास विषयों के चुने हुए मूल्यवान् और दुष्प्राप्य ग्रन्थ रक्खे हैं।

ये छोर पर जुजुत्सू की कुछ किताबें हैं। फिर ये प्रसिद्ध मनोविज्ञान शास्त्री स्टेवंस के ग्रन्थ हैं, जो दाम्पत्य जीवन की कुछ जटिल मनोवैज्ञानिक समस्याओं से सम्बन्ध रखते हैं। यह छः जिल्दों में हैवलक एलिस का विख्यात ग्रन्थ 'साइकोलोजी ऑफ सेक्स' है। ये समाज-शास्त्र-सम्बन्धी कुछ ग्रन्थ हैं। यह 'आइन-ए-अकबरी।' उसकी एक जिल्द खो गई है। उस पर ओरछेश अपना विशेष दुःख प्रकट करेंगे। उन्हें अपनी लाइब्रेरी के सभी ग्रन्थों से इतना प्रेम है कि उनमें से किसी का स्थायी विछोह वे सहन नहीं कर सकते।

यह इलियट का 'हिस्ट्री ऑफ इण्डिया बाइ इट्स ओन हिस्टोरियन्स' नामक प्रसिद्ध इतिहास ग्रन्थ है। यह 'हिस्ट्री ऑफ औरंगजेब' यह 'कैम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ इण्डिया'। यह मैकफैडन का 'इनसाइक्लोपिडिया ऑफ हेल्थ' है। ये होम क्लब लाइब्रेरी के सम्पूर्ण ग्रन्थ। यह छह बड़ी-बड़ी जिल्दों में कुछ संसार-प्रसिद्ध पुस्तकों का संग्रह; और यह सब 'हिस्टोरियन्स हिस्ट्री ऑव दी वर्ल्ड'। उसकी पच्चीस मोटी-मोटी जिल्दें अपनी विशालता के कारण आपका विशेष ध्यान आकृष्ट किये बिना नहीं रहेगीं।

और फिर बिना थके या ऊबे आपसे कहते जायेंगे, "यह बारह जिल्दों में हॉम्सवर्थ का 'यूनिवर्सल इनसाइक्लोपिडिया', ये 'इन्टरनेशनल लाइब्रेरी ऑव फेमस लिटरेचर की बीस जिल्दें।" यहाँ ओरछेश कुछ रुककर कहेंगे, "ये सब ग्रन्थ मेरे स्वर्गीय पिता जी की लाइब्रेरी के हैं। वे बड़े विद्या-व्यसनी थे। बचपन में उनकी लाइब्रेरी में बैठकर शिकार-सम्बन्धी ग्रन्थों के चित्र देखने का मुझे बड़ा चाव था। पढ़ने की रुचि मेरे मन में इसी प्रकार पैदा हुई।"

इन मोटी-मोटी जिल्दों के बाद ही एक ओर गृह-निर्माण और स्थापत्य-विषयक कुछ पुस्तकें लगी हैं। फिर ये मछली के शिकार, पालन-पोषण और उनके जीवन के प्राकृतिक इतिहास पर कुछ चुने हुए ग्रन्थ—ओरछेश का एक अति प्रिय विषय। ये कृषि और बागवानी के ग्रन्थ। ये कुत्तों के पालन पर भी कुछ किताबें।

फिर नीचे आखेट और प्रकृति-विज्ञान सम्बन्धी कुछ रोचक ग्रंथ—'बिग गेम इनकाउण्टर्स', 'विद ए कैमरा इन ए टाइगरलैंड', 'दी जंगल इन सनशाइन एण्ड शेडो'—सभी पढ़ने योग्य। यह डगलस डेवर की प्रसिद्ध किताब 'जंगल फॉक' अर्थात् 'वनवासी' पुस्तक मेरी पढ़ी हुई है। जंगल के कुछ प्रमुख जीवों का बड़ा हृदयग्राही वर्णन उसमें है। यह एक मोटी-सी पुरानी जिल्द, आखेट विषयक एक दुष्प्राप्य ग्रंथ, नाम—ओरिऐंटल फील्ड स्पोर्ट्स।'

यह एक ओर हिन्दी की किताबें लगी हैं। सभी विविध विषयों की खास-खास चुनी हुई किताबें। किन्तु अँग्रेजी के विपुल वैभव और वैविध्य के समक्ष, जो उनके पार्श्व में ही उपस्थित है, वे सब आपको कुछ अप्रतिभ और खिन्नसी जान पड़ेंगी।

"अभी हिन्दी बहुत पीछे है।" आप प्रायः ओरछेश को खेद पूर्वक कहते सुनेंगे। उनके इस उद्‌गार के पीछे हिन्दी भाषा और साहित्य के प्रति उनका उत्कट प्रेम छिपा है और कल्याण-कमना का पुनीत भाव भी।

हिन्दी-ग्रंथों के निकट पहुँचकर सम्भव है, ओरछेश आपसे हिन्दी की कुछ चर्चा करने लगें, कोई एक पुस्तक निकालकर कहने लगें, "देखिये मुझे यह 'मौक्तिक माल' पुस्तक बहुत पसंद आई। और क्या आप 'हिन्दी के कवि और काव्य' के लेखक को जानते हैं? अच्छी किताब लिखी है।" इसका अर्थ यह हुआ कि वे हिन्दी की विभिन्न गति-विधियों से परिचित ही नहीं हैं, उनके साथ अपना घनिष्ठ सम्पर्क बनाये हुए हैं।

लाइब्रेरी के इस मुख्य कमरे के पार्श्व में ही एक और छोटा कमरा है। ओरछेश आपको वहाँ ले जाना नहीं भूलेंगे। वहाँ हिन्दी और अंग्रेजी के विभिन्न सामयिक पत्र तथा शब्द-कोश सजे रक्खे हैं।

छोर पर ही 'पॉप्युलर मेकेनिक्स' की जिल्दें हैं। ओरछेश गंभीरतापूर्वक ही उन्हें अपनी 'बाइबिल' कहते हैं। बात यह है कि आखेट तथा मछली के शिकार की

भाँति यन्त्र-विज्ञान भी उनके मनोरंजन एवं समय-यापन का एक मुख्य साधन है। उक्त पत्र उनके पास सन् '३३ से बराबर आता है। उसके पुराने अंकों की बढ़िया, नयनाभिराम जिल्दें उन्होंने बँधवाकर रक्खी हैं। वे उनकी परिष्कृत रुचि एवं सौन्दर्य-प्रियता का यथेष्ट परिचायक हैं। आप उनकी लाइब्रेरी के ग्रंथों में शायद ही किसी पर पेन्सिल का निशान पायें।

फिर ये सिलसिलेबार मॉडर्न रिव्यू, पियर्सन्स मेगजीन, नेचुरल हिस्ट्री सुसायटी, बम्बई का मेगजीन, ज्योगरिफिकल मेगजीन, विशाल भारत, विश्व भारती, सुकवि सुधा, माधुरी और मधुकर आदि के अंक रक्खे हैं। 'कल्याण' भी है। किन्तु वे बतायेंगे कि वह उनकी रुचि से मेल नहीं खाता, लौकिक अथवा पारलौकिक जीवन की एक व्यावहारिक एवं सुलझी हुई फिलासफी ही उन्हें पसंद है।

इधर दूसरी ओर ये हिन्दी, उर्दू, अँग्रेजी, गुजराती, मराठी, प्राकृत और संस्कृत के अनेक छोटे-बड़े शब्दकोश लगे हैं। हिन्दी विश्वकोश इन्साइक्लोपिडिया ब्रिटेनिका, पद्मचन्द्रकोश, मुनि रत्नचन्द्र जी कृत अर्द्धमागधीकोश—नाम देने की आवश्यकता नहीं जान पड़ती। ओरछेश निरन्तर इन सबका उपयोग करते रहते हैं। उन्हें शब्दों के अध्ययन से भी प्रेम है।

इस कमरे को देख लेने के बाद लाइब्रेरी की सैर पूरी हो चुकती है। जहाँ तक मैं समझता हूँ, कोई स्थल छूटा नहीं। किन्तु फिर भी ठहरिये।

दो-एक ऐसे ग्रन्थ-रत्नों के नाम रह गये, जिनका एक साँस में लाइब्रेरी की उक्त सब पुस्तकों के साथ उल्लेख करना बहुत युक्ति-युक्त और समीचीन नहीं होगा। वे ग्रन्थ इन सब पुस्तकों से, ज्ञान के इस समस्त भण्डार से, बहुत परे और ऊँचे हैं। ओरछेश के हृदय में उनके लिए बड़ी श्रद्धा है। वे उनके स्वाध्याय ग्रन्थ हैं। जब कभी वे दो-चार दिन के लिए भी बाहर जाते हैं तब एक छोटे-से काले बक्स में कुछ अन्य पुस्तकों के साथ वे सबसे पहले उनके साथ चलते हैं। और वे ग्रन्थ हैं एक तो गीता और दूसरी है तुलसीकृत रामायण।

अब सचमुच कुछ देखने अथवा कहके को शेष नहीं रहा। आइये। ओरछेश का स्वामिभक्त पेशेदार चाय लाया है, जिसने लाइब्रेरी के बड़े कक्ष में मेज पर सजा कर रख दिया है। आइये, उसका उपभोग किया जाय।

इस स्थान पर जहाँ लोगों के पास सद्ग्रंथों का बड़ा अभाव है, तथा कोई अच्छा सार्वजनिक पुस्तकालय भी नहीं है, मैं अपने लिए ओरछेश के छोटे किन्तु फिर भी समृद्ध पुस्तकालय को ईश्वर की एक बड़ी देन मानता हूँ। मैं उन दो-एक इने-गिने व्यक्तियों में से हूँ जिन्हें वे अपनी पुस्तकें सहर्ष उधार दे देते हैं।

ओरछेश चिरायु हों, और उनकी विद्यावत्ता एवं विद्यानुराग से निरन्तर हिन्दी भाषा और साहित्य का हित होता रहे भगवान से यही मेरी प्रार्थना है।[1]

---

१ यह लेख ओरछेश की वर्षगाँठ के अवसर पर उन्हें भेंट किये जाने वाले एक हस्तलिखित अभिनन्दन ग्रन्थ के लिए लिखा गया था। —लेखक

१२
ओरछा नरेश श्री वीरसिंह देव

•

जगदीश प्रसाद चतुर्वेदी

मैं उन दिनों कालेज में ही पढ़ रहा था कि एक दिन उरई स्टेशन से कानपुर के लिए रवाना हुआ। उसी डिब्बे में कानपुर के प्रसिद्ध राष्ट्रीय कवि गयाप्रसाद शुक्ल सनेही चल रहे थे। मैं सनेहीजी को पहचान गया, क्योंकि कानपुर में उनकी कविताएँ सुनने का अवसर मिला, बातचीत में पता लगा कि वे टीकमगढ़ के वसन्तोत्सव कवि-सम्मेलन से लौट रहे थे। तभी पता लगा कि ओरछा नरेश वीरसिंह देव हिन्दी कवियों के बड़े संरक्षक हैं और वहाँ पर प्रतिवर्ष बड़े-विशाल पैमाने पर कवि-सम्मेलन का आयोजन किया जाता है।

बाद में तो श्री बनारसीदास चतुर्वेदी कुंडेश्वर पहुँच गए और उनकी कृपा से मुझे टीकमगढ़ जाने का और फिर वहाँ पर चार साल रहने का अवसर मिला। इस बीच में महाराज वीरसिंह देव के व्यक्तिगत सम्पर्क में आया और उनको जितना जाना, उतना ही अच्छा लगा। यह स्वयं एक महत्वपूर्ण बात है क्योंकि साधारण नियम यह है कि बड़े लोगों के आप जितने निकट आते हैं, उतने ही निराश होते हैं। मैं टीकमगढ़ में पहुँचा ही था कि वहाँ पर बुंदेलखण्ड प्रान्त निर्माण के सम्बन्ध में एक बैठक बुलाई गई। श्री बनारसीदास चतुर्वेदी के साथ मैं भी उस बैठक में चला गया। श्री नन्दराम कठैल की दुकान के ऊपर जो कमरा है, उसी में यह बैठक हुई थी। बैठक में जज साहब थे, राजनीतिक मन्त्री थे, अन्य सरकारी अधिकारी थे और कुछ सार्वजनिक कार्यकर्त्ता भी थे। जब मुझे कुछ कहने को कहा तो मैंने कहा कि जब तक राजाओं के स्वेच्छाचारी अधिकारी समाप्त नहीं होते और वहाँ उत्तरदायी शासन नहीं दिया जाता, तब तक बुंदेलखण्ड प्रान्त का निर्माण सम्भव नहीं है। हम जो बुंदेलखण्ड के अँग्रेजी जिलों में रहने वाले हैं, वे इस बात को स्वीकार नहीं करेंगे कि उनका शासन-भार अँग्रेजों की जगह कोई राजा या महाराजा संभाले और उन्होंने अभी तक जो स्वाधीनता प्राप्त की है वह भी न रहे। मैं बुंदेलखण्ड के जालौन जिले का निवासी था, यद्यपि अपने जिले में रहने का मुझे कोई अधिक अवसर नहीं मिला। शिक्षा मैंने मथुरा और कानपुर में पाई, रोजगार मथुरा, इलाहाबाद और दिल्ली में मिला, लेकिन न जाने क्यों ओरछा-नरेश की छत्रछाया में उन्हीं के खजाने के खर्च से

चलने वाली श्री वीरेन्द्र केशव साहित्य परिषद का एक नव-नियुक्त कर्मचारी होते हुए भी मुझे ऐसा लगा जैसे मैं अपने जिले का प्रतिनिधित्व कर रहा हूँ और मैंने यह बात कह दी। मुझे तो यह कहते हुए ऐसा नहीं लगा कि मैं कोई अजीब बात कह रहा हूँ, परन्तु मेरी बातचीत के बाद ऐसा लगा कि सभा को साँप सूँघ गया। कोई कुछ नहीं बोला और अध्यक्ष ने सभा एकाएक समाप्त कर दी। श्री बनारसीदास चतुर्वेदी शायद कुछ चिन्तित हुए हों, पर उन्होंने नीचे उतर कर केवल इतना ही कहा—तुमने खूब तेज कह दिया। दो-एक दिन में शहर से भनक आने लगी कि छोटे चौबेजी ने कुछ ऐसी बात कह दी जिसकी वहाँ कल्पना नहीं थी। लेकिन मुझे सुखद आश्चर्य हुआ कि जब महाराजा साहब श्री बनारसीदास चतुर्वेदी से मिलने कुंडेश्वर आए, जहाँ हम लोग रहते थे, तो उन्होंने मुझे बुलवाया। छोटे चौबेजी कहकर सम्बोधित किया, कुशल समाचार पूछे और कहा कि 'तुमने ठीक कहा, मैं तो राजाओं से नौगाँव में ही कह आया हूँ कि अपनी सार्वभौम सत्ता को चिपकाए रखो (उन्होंने एक बुंदेलखण्डी मुहावरा इस्तेमाल किया था) यह किसी काम नहीं आएगी।' हठात् मुझे लगा कि इस राजा में उदारता भी है, सहनशीलता भी है और दूरदृष्टि भी है।

टीकमगढ़ का प्रवास मेरे जीवन का सर्वोत्तम अंश था। उन चार वर्षों में न जाने कितना वन-भ्रमण किया कितना कुंडेश्वर में जमणार में और जामनेर में तैरे, न जाने कितने आम, अमरूद और जामुन खाए, दो-तीन घण्टे बैठकर काम किया और सारे दिन गप्पें मारीं—न ऊधो का लेना, न माधो का देना, और न जाने कितने-कितने ख्याल आए, जो बाद में बड़े-बड़े आन्दोलनों में, पल्लवित हुए—जनपदीय आन्दोलन, विकेन्द्रीकरण आन्दोलन, बुंदेलखण्ड प्रान्त निर्माण, देशी राज्यों की प्रजा का आन्दोलन और श्रमजीवी पत्रकारों का संगठन, इन विचारों पर मनन करने का अवसर मिला, अध्ययन करने का अवसर मिला, लिखने-पढ़ने का मौका मिला, घूमने-फिरने के लिए खर्च और छुट्टी मिली और मैं आज जो कुछ हूँ या मेरे माध्यम से श्रमजीवी पत्रकारों की जो सेवा बनी है, उसका आधार कुंडेश्वर का वह प्रवास था, जहाँ मुझे 'जैंटिलमैन दि प्रेस' पुस्तक पढ़ने को मिली और यह विचार बने कि किस तरह श्रमजीवी पत्रकारों का संगठन हो सकता है। वहाँ पर ही मैंने फ्री प्रेस आफ इण्डिया समिति के लिए काम शुरू किया, जो मुझे अन्ततोगत्वा दिल्ली ले आई और दैनिक पत्रकारिता में प्रतिष्ठित करा दिया।

यह सब सम्भव हुआ केवल इसलिए कि श्री वीरसिंह देव की उदारता थी और उनकी यह दूरदृष्टि थी कि उनके यहाँ पर हिन्दी का काम होना चाहिए। वह हम लोगों से कहते थे कि हिन्दी की सेवा तो मुझे करनी चाहिए, पर मैं कर नहीं सकता हूँ, इसलिए आप हिन्दी का जो भी काम करें उसे मैं अपना ही काम मानता हूँ। इतनी खुली छूट थी, जिसने श्री बनारसीदास चतुर्वेदी को, श्री कृष्णानन्द गुप्त को, श्री लोकनाथ सिलाकारी को, श्री यशपाल जैन को और मुझे वहाँ पर विविध

प्रकार के साहित्यिक कार्यों को करने और कराने के लिए प्रोत्साहित किया। महाराजा ओरछा ने उस समय हिन्दी जगत का सबसे बड़ा पुरस्कार 'देव पुरस्कार' स्थापित कर रखा था जिससे ब्रजभाषा तथा खड़ी बोली दोनों के मान्य कवियों को प्रोत्साहन मिला और इस वर्ष भी मध्य प्रदेश का वह अकेला ऐसा पुरस्कार है जिसका क्षेत्र सारा भारत है।

श्री वीरसिंह देव के काल में ओरछा ने कई दिशाओं में प्रगति की। साहित्यिक गतिविधियों का तो टीकमगढ़ केन्द्र रहा और 'मधुकर' पत्र ने रेलवे स्टेशन से ३६ मील दूर पर प्रकाशित होने के बाद भी, सारे हिन्दी-जगत को अपनी ओर आकर्षित किया। हिन्दी के विद्वान और युवा कवि तथा लेखक कुंडेश्वर आते ही रहते और बुंदेलखण्ड साहित्यिक गतिविधियों से गूँजता रहता। ओरछा का भगवन्त क्लब हाकी के खेल में भारत का सबसे कीर्तिमान खिलाड़ी टोली को उत्पन्न करने में समर्थ हुआ और उसके खिलाड़ी आज तक अपनी गरिमा को कायम किए हैं। राजनीतिक आन्दोलन के क्षेत्र में भी ओरछा सेना संघ और बुंदेलखण्ड सेना संघ की स्थापना महत्वपूर्ण थी और यहाँ पर ऐसे जननायक पैदा हुए जिन्होंने न केवल बुंदेलखण्ड और विंध्यप्रदेश का ही नेतृत्व किया, समग्र मध्य प्रदेश की राजनीति में व्यापक प्रभाव डाला। ओरछा का राज्य कोचीन और औंघ के बाद तीसरा राज्य था, जिसने उत्तरदायी शासन प्रदान किया और जिसके राजा ने अपने जेबखर्च और निजी सम्पत्ति की वह सीमा स्वीकार की जो राज्य मंत्रालय द्वारा निर्धारित सीमा से भी कम थी। ओरछेश अत्यन्त साहसी व्यक्ति थे और सहिष्णुता का तो कहना ही क्या। एक बार टीकमगढ़ में बुंदेलखण्ड प्रान्त निर्माण सम्मेलन हो रहा था। महाराजा वीरसिंह देव भाषण कर रहे थे और मंच पर उनके साथ मध्य प्रदेश के प्रसिद्ध काँग्रेसी नेता श्री द्वारिकाप्रसाद मिश्र तथा व्योहार राजेन्द्रसिंह विद्यमान थे। अँग्रेजी राज था, सन् १९४५ होगा। जब महाराजा अपना भाषण समाप्त कर चुके तो मैंने उनको एक चिट भेजी कि क्या बुंदेलखण्ड प्रान्त निर्माण के लिए आप यदि आवश्यकता पड़े तो ओरछा राज्य में पूर्ण उत्तरदायी शासन देंगे? और तत्काल ही श्री वीरसिंह देव ने उत्तर दिया— 'अवश्य। उनकी यह पहली प्रतिक्रिया थी। बाद में नौगाँव के पोलिटिकल एजेंट ने उनको इसके लिए बहुत लानत-मलामत की, पर तब तक हम उनके भाषण को सारे देश के पत्रों में प्रचारित करा चुके थे और उसका जो मनोवैज्ञानिक प्रभाव देशी राज्यों के आन्दोलन में होना था, वह हो गया और इसलिए यह स्वाभाविक ही था कि उत्तर भारत में ओरछा पहला राज्य था जहाँ पूर्ण उत्तरदायी शासन दिया गया और उसे देते समय महाराजा ने अपूर्व सदाशयता का परिचय दिया। एक बार शासनसूत्र जनता के हाथ में छोड़ देने के बाद उन्होंने कभी भी परोक्ष रूप से शासन में हस्तक्षेप करने का विचार ही नहीं किया।

महाराजा ओरछा की और बड़ी देन थी जिसको टीकमगढ़ जिलावासियों ने लगभग २० वर्ष बाद पहचाना। उन्होंने राज्य का फार्म बनाया। उसमें सोयाबीन

की खेती कराई और उसका 'मधुकर' के द्वारा प्रचार भी किया। २० वर्ष बाद टीकमगढ़ जिला खाद्य उत्पादन के क्षेत्र में पूरे प्रदेश में अग्रणी हुआ, जगह-जगह सिंचाई हुई और सोयाबीन की खेती हुई। उनके भतीजे श्री नरेन्द्र सिंह ने उत्तम खेती का जो नमूना पेश किया उसे पूरे जिले ने स्वीकार किया। आज यदि टीकमगढ़ का विकास विंध्यप्रदेश के अन्य रियासती क्षेत्रों से सबसे अधिक है, यदि वहाँ जनजागृति है, कृषि में उन्नति हुई है, गरीब वर्ग का विकास हुआ है, तो उसका बहुत बड़ा श्रेय श्री वीरसिंह देव की उस नीति और उदार दृष्टि का था जिसका उन्होंने अपने जीवन में परिचय दिया। यदि श्री वीरसिंह देव राजवंश में पैदा न होते तो या तो वे अभूतपूर्व साहित्यकार होते अथवा एक शक्तिशाली राजनेता। उनके गुणों को इसीलिए विस्मृत किया गया कि वे राजा थे। परन्तु उन्होंने स्वयं तथा अपने साधनों के द्वारा जो सेवा की वह भी कम महत्वपूर्ण नहीं। उनका सबसे बड़ा काम तो यही था कि उन्होंने श्री बनारसीदास चतुर्वेदी को टीकमगढ़ बुलाया जिसके कारण टीकमगढ़ में तो अनेक साहित्यिक अनुष्ठान हुए ही, श्री बनारसीदास चतुर्वेदी बारह वर्ष तक राज्यसभा के सदस्य रहकर दिल्ली के साहित्यिक मरुस्थल को बदलकर साहित्यिक उद्यान बना गए और जिनके द्वारा प्रदत्त सुरक्षा के कारण अब तक वे निर्बाध गति से साहित्य सेवा कर रहे हैं और साहित्यकारों को प्रोत्साहन तथा प्रेरणा देते रहे हैं।
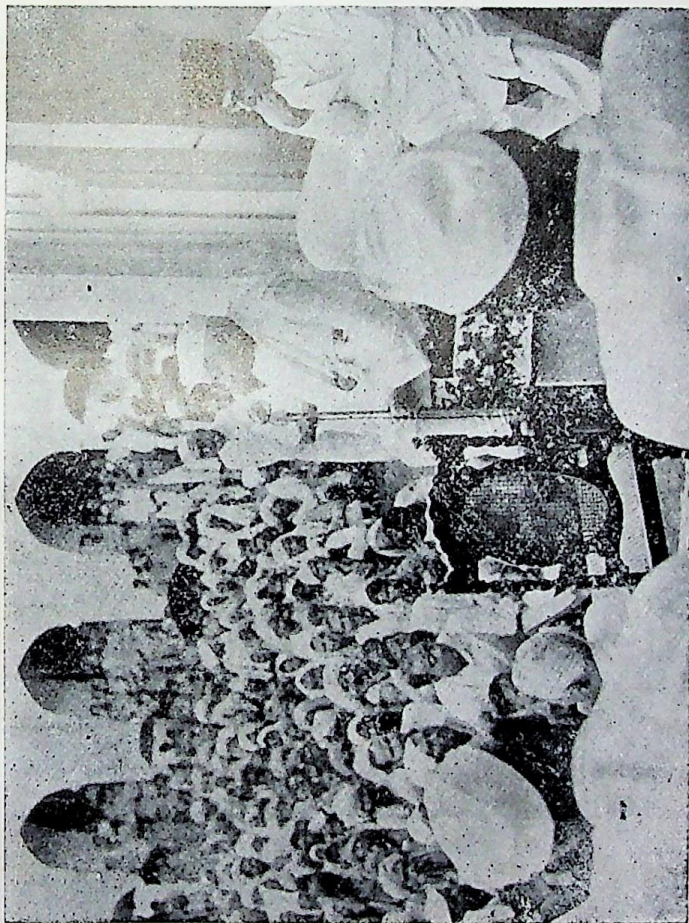
पं० जवाहरलाल नेहरू व महाराजा वीर सिंह जू देव टीकमगढ़ की जन सभा में।
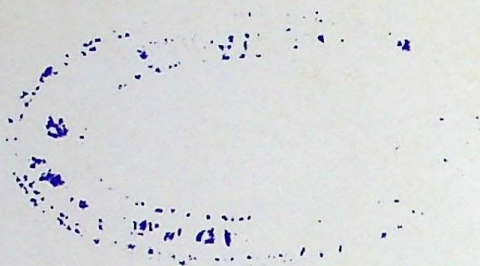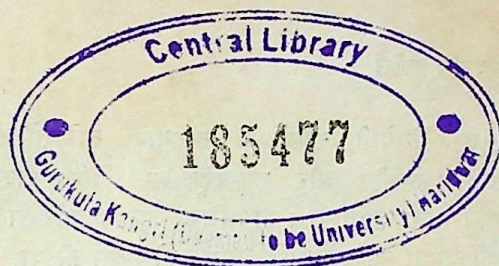
ओरछेश श्री वीरसिंह जू देव

नन्दराम कठैल

मुगल बादशाह जहाँगीर के काल में ओरछा नरेश महाराजा वीरसिंह जू देव ने इस राज्य को सर्वोच्च शिखर पर पहुँचा कर अपनी सीमाएँ गंगा, नर्मदा, चम्बल और तमसा नदियों तक पहुँचा दी थीं। घटते-घटते यह राज्य अंग्रेजों के शासन-काल में धसान और बेतवा नदियों के बीच झाँसी और सागर जिले से मिला हुआ २०८० वर्गमील क्षेत्रफल में ३७३४०५ जन-संख्या वाला रह गया था। इसी बुन्देला राजवंश के अन्तिम नरेश महाराज वीरसिंह जू देव द्वितीय ने १७ दिसम्बर १९४७ को यह राज्य अपनी जनता के हाथ में सौंप कर और स्वयं एक वैधानिक नरेश रहकर सामन्त-वाद की पूर्ण आहुति दी।

अपने पचासी वर्षीय पितामह महाराजा प्रतापसिंह के पचपन वर्ष के पुरातन-पंथी शासन-काल के पश्चात् जहाँ महाराजा छत्रशाल सरीखे वीर उत्पन्न हुए, ओरछा के बुन्देला ऐतिहासिक सिंहासन पर वीरसिंह देव इकतीस वर्ष की आयु में आसीन हुये। इसके पूर्व मध्य प्रान्त में कमिश्नर रह कर शासन का पर्याप्त अनुभव प्राप्त कर चुके थे। अपने शासन के प्रथम दिन ही उन्होंने जो आज्ञाएँ प्रकाशित कीं, उनमें से कुछ मुख्य निम्न प्रकार हैं।

१. राज्य की भाषा शुद्ध हिन्दी होगी।

२. राज्य में छुआछूत दण्डनीय अपराध होगा। हरिजन महिलाएँ पैरों तक में चाँदी-सोने के आभूषण पहन सकती हैं।

३. बिना मजदूरी अथवा कम मजदूरी देकर बेगार में काम लेने की प्रथा राज्य में समाप्त की जाती है।

४. राजा के सामने लोग किसी भी पोशाक में नंगे सर तक आ सकते हैं, छाता लगा सकते हैं और कुर्सी पर बैठ सकते हैं।

५. बाल-विवाह करना राज्य में दंडनीय अपराध माना जायगा।

ये लिखित कागजी कानून ही नहीं रहे वरन उनके राजमहल में सवर्ण, हरिजन, मुसलमान के बीच कोई भेदभाव नहीं होता था। यह उस समय की बात है जब

अधिकांश इस तरह के देशी राज्यों में रूढ़िवादी सामन्तों और नरेशों के शासन में जनता अशिक्षित, भयभीत और कूप-मंडूक थी। ब्रिटिश राज्य में उस समय बाल-विवाह जुर्म नहीं माना जाता था। सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक क्षेत्र में उन्होंने अपने राज्य की जनता को यथाशक्ति अग्रसर तो किया ही था, परन्तु हिन्दी साहित्य की उन्नति के हेतु उनकी अखिल भारतीय सेवाएँ सदैव प्रशंसनीय रहेंगी।

भारत के प्रथम राष्ट्रपति श्रद्धेय राजेन्द्र बाबू मार्च १९५३ में टीकमगढ़ पधारे। महाराजा वीरसिंह जू देव का आतिथ्य भी स्वीकारा और सार्वजनिक सभा में हिन्दी के प्रति की गई उनकी सेवाओं की भूरि-भूरि प्रशंसा की। प्रधान मन्त्री पं० जवाहर लाल नेहरू ने बुन्देलखण्ड के अपने प्रथम दौरे में यहाँ के देशी नरेशों में से केवल इनका ही आतिथ्य स्वीकार किया। महाराज छत्रशाल की छावनी धुवेला में इस जनपद का प्रथम संग्रहालय खोलकर वीरसिंह जू देव को उसका अध्यक्ष वनाया।

देश भर के साहित्यिकों के लिये उनका स्वागत द्वार और खजाना सदैव खुला रहता था। बुन्देलखण्ड के कवि और लेखकों के लिए उनका राज्य मायके के समान था। अपने भूतपूर्व हिन्दी शिक्षक पं० बनारसीदास चतुर्वेदी को अक्टूबर १९३७ में बुलाकर उन्होंने ससम्मान अपने राज्य में रखा। उनके सम्पादकत्व में कुण्डेश्वर से पाक्षिक 'मधुकर' तथा श्री कृष्णा नन्द जी गुप्त द्वारा 'लोक वार्ता' मासिक निकलवाकर इस जन पद की बुन्देली भाषा, संस्कृति, रीति-रिवाज, लोकगीत और नृत्य और कथा-कहानियों को प्रकाश में लाये। उनका केवल प्रकाशन ही नहीं वरन् उन पर वैज्ञानिक एवं ऐतिहासिक खोज भी कराई। बुन्देली भाषा के शब्द-कोश का संकलन कराया। चतुर्वेदीजी के नेतृत्व में कुण्डेश्वर ने एक युग तक हिन्दी जगत में प्रकाश स्तम्भ का कार्य किया। अपने यहाँ 'वीरेन्द्र केशव साहित्य परिषद्' के नाम से हिन्दी के सेवार्थ एक संस्था खोल कर उसे हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयाग से सम्बद्ध किया। इसी के द्वारा उस समय हिन्दी का सर्वोच्च वार्षिक 'देव पुरस्कार' चलाया गया, जो आज भी चालू है। वसंतोत्सव पर उनके यहाँ कुण्डेश्वर में अखिल भारतीय स्तर का विशाल कवि-सम्मेलन होता था। स्वर्गीय मुन्शी अजमेरी, कविवर बिहारी तथा अन्य दो-चार प्रतिष्ठित विभूतियाँ उनके राज-कवि थे। समय-समय पर 'भण्डारकर इन्सटीच्यूट' पूना, 'हिन्दी साहित्य सम्मेलन' तथा अनेकों कवियों और लेखकों को उदारता-पूर्वक अनुदान देते रहते थे। इतने पर भी कभी उन्होंने 'मधुकर', 'लोक-वार्त्ता' या अन्य पत्रों में अपनी प्रशंसा और चित्र नहीं छपने दिये।

न्यायप्रियता

बुन्देलखंड के ३४ देशी राज्यों में छोटा-से-छोटा राज्य ६ हजार वार्षिक आय का और बड़े-से-बड़ा बीस लाख का था। इन सभी राज्यों के राजाओं को लगभग वही अधिकार अपने आन्तरिक शासन में थे, जो भारत के बड़े-से बड़े देशी राज्य को थे। अधिकांश राज्यों में 'राजा करे सो न्याय, पासाँ पड़े सो दांव' वाली कहावत

चरितार्थ होती थी। न्याय सभी के लिए समान और पक्षपात रहित न था। श्री जूदेव का यह निश्चित मत था कि छोटे-छोटे राज्यों से न ठीक प्रशासन व्यवस्था चल सकती है, न जनता की आर्थिक उन्नति हो सकती है। इस उद्देश्य की पूर्ति हेतु उन्होंने भाषा और संस्कृति के आधार पर बुन्देलखण्ड प्रान्त निर्माण का भरसक प्रयत्न किया, जिसमें बुन्देलखण्ड के देशी राज्यों सहित उत्तर प्रदेश के चार जिले और मध्य प्रदेश के बुन्देली भाषा-भाषी जिले हों।

इसके प्रथम चरण के रूप में बुन्देलखण्डों के सभी नरेशों को राजी कर एक मिली-जुली हाई कोर्ट तथा पुलिस मुख्यालय स्थापित कराया, जिस पर ब्रिटिश राज्य के अनुभवी ईमानदार अवकाश-प्राप्त अधिकारी हाई कोर्ट जज और महानिरीक्षक पुलिस नियुक्त किये गये। इसका अन्तिम चरण आया तब जब वीरसिंह जूदेव ने श्री वी० पी० मेनन के समक्ष अपने राज्य को भारत में विलय करने के दस्तावेज पर हस्ताक्षर करके प्रान्त-निर्माण का पथ प्रशस्त किया। उसी दिन प्रान्त-निर्माण का अपना स्वप्न 'विन्ध्य प्रदेश' के रूप में साकार देखकर वह फूले नहीं समाते थे। वह बोले "बुन्देलखण्ड की जनता की धरोहर कई सौ वर्षों से जो बुन्देला नरेशों के पास रहती चली आ रही थी, उसके अविशिष्टों को मैंने जनता के हाथों में वापस सौंप दिया।" 'रहिमन उतरे पार, भार झौंक सब भार में' शेष जीवन में कभी सत्ता के मोह में नहीं पड़े। अध्ययन-अध्यापन में ही अपना जीवन व्यतीत किया।

अढ़ाई दिन का बादशाह

जनता द्वारा चुने हुए उनके मन्त्री श्री चतुर्भुज पाठक के यहाँ भतीजी का विवाह था। प्राचीन रूढ़ियाँ तोड़कर श्री वीरसिंह जूदेव उनके यहाँ पहुँचे। बारात उसी शामियाने में आई, जहाँ महाराजा साहब राजसी गद्दी पर बैठे थे। दूल्हा को देखते हुये वह उठकर उसका स्वागत करने लगे और स्वयं गद्दी खाली कर अपनी गद्दी पर हाथ पकड़ के दूल्हा को बिठाल दिया और स्वयं बगल में बैठ गये। लोगों को आश्चर्यचकित देखकर उन्होंने कहा, "इसमें आश्चर्य की क्या बात है। दूल्हा अढ़ाई दिन का बादशाह माना जाता है। मैं तो केवल एक राजा हूँ। बादशाह को गद्दी पर बैठने का पहला हक है।

मानवतावादी शासक

निम्न मध्यम वर्गीय परिवार की एक शिक्षित क्वारी लड़की के एक अवैध संतान हुई। अपयश के भय से उसने नवजात शिशु की हत्या करदी। अपराध पकड़ा गया। लड़की को न्यायालय से आजन्म कारावास का दण्ड मिला। परन्तु श्री जूदेव का हृदय उस कन्या के अन्धकार-मय भविष्य की कल्पना कर विचलित हो गया। समाज-सेवी कार्य-कर्त्ताओं को बुलाकर उन्होंने उस लड़की का भविष्य सुधारने के लिये प्रेरित किया। एक सुयोग्य वर लड़की के लिए मिल जाने पर नरेश ने उसको क्षमा-

दान दिया। अपने निजी व्यय से वैदिक रीति से धूमधाम से उसका विवाह रचाकर उसका भविष्य उज्ज्वल बना दिया।

एक बार एक ५० वर्षीय धनी सेठ गरीब घर की एक बारह वर्षीय कन्या से विवाह कर रहे थे। पता चलते ही वह विवाह रुकवा दिया गया। सेठ जी को इस कुकृत्य के लिये काफी शर्मिन्दा किया और राज्य की ओर से उस कन्या का विवाह एक सुयोग्य वर के साथ कर दिया। साथ ही एक आज्ञा भी तुरन्त प्रकाशित की कि मेरे राज्य में अनमेल विवाह भविष्य में करना दण्डनीय अपराध माना जायगा। वर और कन्या में आयु का अन्तर दस वर्ष से अधिक नहीं होना चाहिए। एक बार उनकी राजधानी टीकमगढ़ नगर में हैजे की बीमारी का भयंकर प्रकोप हुआ। लोगों ने उनको टीकमगढ़ छोड़कर हैजे से बचने की सलाह दी तो उन्होंने उत्तर दिया, "ऐसे घोर संकट के समय में मैं अपनी प्रिय प्रजा को असहाय छोड़कर नहीं भाग सकता।" उन दिनों में वह प्रतिदिन नगर की गली-गली में भ्रमण कर गन्दगी साफ कराते और शुद्ध पेयजल तथा रोगियों के इलाज की व्यवस्था कराते रहे। उनके राज्य में डाक्टरों के लिए सदैव यह अनिवार्य रहा कि असमर्थ बीमारों को बिना किसी भेदभाव के प्रतिदिन उनके घरों पर जाकर मुफ्त इलाज करें इसके लिए उन्हें वेतन के अतिरिक्त पृथक भत्ता और सरकारी सवारी घूमने को दी जाती थी।

स्वतन्त्रता का मूल्य

जयपुर नरेश ने एक बार उन्हें पत्र लिखा कि कुछ स्वर्णमृग (चीतल) अपने राज्य के जंगलों से पकड़वाकर मेरे राज्य में भेजने की कृपा करें। तदनुसार चीतल पकड़वाये गये। जयपुर भेजने का प्रवन्ध करते समय तक उन्हें उनके 'भगवन्त क्लब' के एक बाड़े में रखा गया। दूसरे दिन वीरसिंह जूदेव ने देखा कि उनमें से बहुतों ने दाना-पानी ग्रहण नहीं किया और दो तो दीवाल से सिर मार कर मर गये। इसका उनके मन पर गहरा असर हुआ। तुरन्त बचे हुए चीतलों को उनके जंगल में छुड़वा दिया गया। मित्र नरेश से असमर्थता प्रकट कर दी और इसी आधार पर एक वनचर के नाम से 'स्वतन्त्रता का मूल्य' शीर्षक एक लेख पं० बनारसीदास चतुर्वेदी द्वारा 'विशाल भारत' में छपवाया।

प्रशासनिक सुधार

राज्य की शासन-पद्धति को उन्होंने उत्तरोत्तर यथाशक्ति प्रजातन्त्र की ओर अग्रसर किया। १९३३ में ग्राम-पंचायतों का गठन किया। अपने चालीसवें जन्म-दिन पर १९३८ में बालिग मताधिकार के आधार पर 'तप्पा प्रजामण्डल और राज्य-विधान-सभा का चुनाव कराया। अपना निजी खर्च पचास प्रतिशत कम करने की घोषणा की। तप्पा प्रजामण्डल आज की जनपद या ब्लाक पंचायतों से छोटी इकाई जनता द्वारा चुनी हुई थी, जिसे आज से कुछ अधिक ही प्रशासन और न्याय के अधिकार थे।

अँग्रेजों की कुदृष्टि से अपने को बचाते हुए देशव्यापी चलने वाले स्वतन्त्रता-संग्राम को भी सीमित रूप में अपने राज्य में चलने देने के वह हामी थे। जून १९४२ में 'देशी राज्य लोक परिषद' से सम्बद्ध 'ओरछा सेवा संघ' एवं 'हरिजन सेवक संघ' के चलाने की उन्होंने अपने राज्य में स्वीकृति प्रदान की। इन्हीं संस्थाओं द्वारा की गई जन जाग्रति के बल पर ओरछा राज्य में १९४७ में जनता के प्रति पूर्ण उत्तरदायी शासन भारत देशी राज्यों में सर्वप्रथम ओरछा राज्य में स्थापित हुआ।

चन्द्रशेखर आजाद इन्हीं के राज्य में ओरछा में सातार नदी के तट पर रहकर अपनी क्रान्तिकारी गति-विधियाँ चलाते रहे। १९४२ में पं० बनारसीदास चतुर्वेदी का निवास कुण्डेश्वर अनेकों क्रान्तिकारियों का अड्डा रहा, जिसकी वीरसिंह देव को पूर्ण जानकारी रही। एक बार ब्रिटिश हुकूमत ने चौबेजी को इन्हीं गति-विधियों के कारण गिरफ्तार कर भेजने को लिखा, पर महाराज साहब ने यह नहीं होने दिया।

राष्ट्रीय गति-विधियों के कारण एक अँग्रेज पोलीटीकल ऐजेन्ट ने इन पर कटाक्ष किया कि आपके राज्य में गाँधी टोपी वाले अधिक दीखने लगे हैं तो महाराज ने कहा कि मेरी अत्यन्त गरीब जनता को इससे सस्ता सिर ढकने का कोई अन्य साधन नहीं हो सकता।

कवि हृदय

वीरसिंहजू देव का हृदय कठोर शासकों का न होकर भावुक, कोमल कवियों का था। उन्मुक्त वातावरण में रहना और अधिक समय सद्ग्रन्थों के अध्ययन में व्यतीत करना उन्हें अधिक रुचिकर था। बहुधा राजसी ठाट-बाट से ऊब कर वह पं० बनारसीदास के यहाँ जा पहुँचते थे और घण्टों चाय की चुस्कियाँ लेकर साहित्यिक चर्चाएँ करते रहते थे, अथवा अपने फॉर्म के एक आस्ट्रेलियन मैनेजर के यहाँ बैठकर बीयर और ह्विस्की के प्यालों के बीच मनोविनोद करते थे। जब कभी उन्हें कोई अपना घर का भोजन कराता तो बड़ी रुचि से खाते और प्रशंसा करते न अघाते। ग्रामीण भ्रमण के समय उन्हीं लोगों की भाँति लोटा लेकर जंगल में शौच जाते और आग के कौड़े पर बैठकर सभी ग्रामीणों से सहज चर्चा-वार्ता करते थे।

राज्य की सम्पत्ति को अपने निजी नाम जमा करना उन्हें पसंद नहीं था। राज्य के विलीनीकरण के समय उनके निजी बैंक खाते में आठ-दस हजार रुपये से अधिक न थे। उन्होंने अपने तीन विशाल भवन, कुण्डेश्वर कोठी, गाँधी भवन को, तालाब कोठी कालेज को व प्रतापगढ़ कोठी, जिला के सरकारी कार्यालयों को दे दी थी। उत्तरदायी शासन देने के बाद अपने टीकमगढ़ किले के विशाल राज-निवास को छोड़कर सकुटुम्ब नगर के बाहर एक छोटी बैकुण्ठी कोठी में रहने लगे थे।

इतना सब कुछ होते हुए भी वह अनेक मानवीय दुर्बलताओं से नहीं बच सके। जनता के महान् नेता श्री नारायणदास खरे को सामन्ती शक्तियों ने गोली से उड़ा दिया। **अनेक स्वतन्त्रता-संग्रामियों** की पिटाई हुई और उन्हें जेल की यातनाएँ भुग-

तनी पड़ीं। कई अधिकारियों ने जनता पर अमानवीय अत्याचार किये। एक तहसीलदार का नाम तो जनता ने 'हण्टर बहादुर' ही रख दिया था। इन कुछ घटनाओं को सहज मानवीय कमजोरी मानकर अपवाद-स्वरूप लें सो इनका चरित्र देशी राज्यों के सर्वोच्च नरेशों में गिना जायगा।

ओरछा राज्य की जनता ने राजा वीरसिंहजू देव को और श्री देव ने अपनी जनता को अपार प्रेम दिया।

७ अक्टूबर १९५६ को बम्बई में उनका जब प्राणान्त होने लगा तो उन्होंने अपनी अन्तिम इच्छा की कि उनका दाह-संस्कार टीकमगढ़ में उनके प्रिय भगवंत क्लब के प्रांगण में किया जाय, जहाँ उन्होंने अपने जीवन के बहुत से उत्तम क्षण आनन्द-पूर्वक व्यतीत किये। देहान्त के समय भी वह असीम शान्ति मुद्रा में थे। कुछ ही क्षण पूर्व अपने पास खड़े सभी संग-सम्बन्धियों और मित्रों से हाथ मिला-मिलाकर विदा ली और फिर जब आँखें बन्द कीं तो सदैव को ही बन्द रह गईं।

१४

ओरछेश का औसान

•

ले० कर्नल सज्जन सिंह

पाठक इस शीर्षक को देख कर कहेंगे कि औसान कौनसी बला है। 'औसान' डिंगल का शब्द है, जिसका अर्थ निम्नलिखित है :

"प्राणों के भय की परिस्थिति में यकायक पड़ जाने पर धैर्य बना रहना तथा क्षण मात्र में जैसा चाहिए वैसा उपाय सोच कर उसे कार्य रूप में परिणत कर देना।"

हो सकता है कि इसके पर्यायवाची शब्द संस्कृत तथा अन्य भाषा में हों। बुन्देलखण्डी में 'सिपड़ा' शब्द है, परन्तु जहाँ तक मैं समझता हूँ, इसके माने धैर्य है। 'धैर्य' शब्द ऐसा है, जो कई प्रकार से प्रयोग में लाया जा सकता है। अंग्रेजी में भी शायद एक शब्द तो नहीं, परन्तु प्रेजेन्स आफ माइन्ड दो तीन शब्दों को इकट्ठा करके उक्त शब्द के भाव प्रकट करने का काम निकाला जाता है। लेकिन इससे भी मेरा काम नहीं चलता। यही कारण है कि मैंने 'औसान' शब्द का प्रयोग किया। वैसे मैं किसी भाषा का पंडित नहीं हूँ, इसलिये मुझे शब्दों के झमेले में पड़ने की आवश्यकता भी नहीं।

मैं ओरछेश का बाल-सखा हूँ, अतः मुझे इन्हें खुर्दबीन लगाकर प्रत्येक परिस्थिति में देखने का अवसर मिला है। विपक्षी के प्रचार करने पर, क्रोध आने पर, आर्थिक तथा शारीरिक दुख पड़ने पर, प्रियजनों के वियोग के समय तथा शिकार में प्राणों के संकट में आ जाने पर कई बार मैं उनके साथ रहा हूँ, और उसी खुर्दबीन को लगाकर देखने पर मुझे कहीं पर भी उनका औसान डिगता नजर नहीं आया। हाँ, इनको देख कर या साथ में उसी परिस्थिति में पड़ जाने पर बन्दे का औसान अवश्य डिगा। इस विषय की पुष्टि में कई घटनाओं को लेकर मैं काफी लिख सकता हूँ, परन्तु यह मेरे बूते के बाहर है। दूसरे मुझे आज्ञा दी गई है कि मैं 'ओरछेश की शिकार-प्रियता' पर लिखूं। शिकार-प्रियता इतना लचर शब्द है कि जिसका शीर्षक के लिए प्रयोग करना मैं अपनी तुच्छ बुद्धि से ओरछेश के प्रति अपमान समझता हूँ। शिकार-प्रियता तो कायरों में भी हो सकती है, जो चालीस फुट ऊँचाई पर बैठ कर सांभर और चीतल के बच्चों तक को मार डालते हैं और शिकार की बातें चलने पर

डींग हाँकते हैं कि मैंने हजारों जानवर मारे हैं। इन सब बातों को विचार करके मैंने शीर्षक बदलना ठीक समझा।

बहुत दिनों की बात है। सन् १९२१ की या १९२२ की, परन्तु इतना अवश्य स्मरण है कि कार्तिक का महीना था और उस दिन पूर्णिमा थी। इन दिनों में कोदे और धान गदरा जाते हैं जिन्हें खाने के लिए सूअर रात्रि के समय खेतों पर पहुँचने लगते हैं। सांभर और चीतल इन दिनों में रुइयाँ होते हैं, अतः सूअर के अतिरिक्त अन्य अगोट पर निकलने वाले जानवर नहीं मारे जाते। कई जगह से सूअरों के खेत पर लगने की या अगोट पर निकलने की खबरें आती थीं। खेराई के जंगल से एक बड़े सूअर की रात्रि के नौ दस बजे अकेले एक ही घाट से होकर निकलने की खबर आ रही थी। मगना सौर चार छह बार खैदिया कर खबर दे चुका था, परन्तु सलाह यह हुई थी कि पूर्णिमा के दिन घाट बांधे जायं ताकि सूअर के निकलने के समय चाँदनी अच्छी छिटकी रहे और बन्दूक मारने में भी आसानी रहे।

दिन डूबते-डूबते हम सात-आठ शिकारी मौके पर पहुँच गए और तीन जगह करोंदी और ढाक की डगालें काट कर छिपने के लिए तीन गढ़े बना लिये। बीच वाले गढ़े में, जहाँ से सूअर प्रतिदिन निकल रहा था, तीन शिकारी बैठे। बीच में ओरछेश थे। इनकी बांई ओर भैया राजा (मेजर सोहनसिंह जी मनपुरा वाले) और दाहिनी ओर मैं था। हमारे गढ़े से बाईं ओर के गढ़े में महाराज के भाई तथा दो शिकारी और थे। इसी प्रकार तीसरे गढ़े में भी कुछ शिकारी डटे थे। हमसे दस गज की दूरी पर नदी का किनारा था, जो लगभग छह फुट ऊँचा था।

कई जगह जहाँ-जहाँ पानी उथला था, आदमियों और जानवरों के आने-जाने के कारण घाट बन गये थे। हम भी एक घाट बाँधे थे, जो हमसे पन्द्रह या बीस गज दूर था। इसी घाट से सूअर चढ़ता था और हम यही समझे थे कि घाट चढ़ कर जब सूअर गढ़े से पाँच-छह गज पर आ जावेगा, हम बन्दूक चलाकर मार लेंगे। हमने जान-बूझ कर घाट से पाँच-छह गज हट कर गढ़ा बनाया था, ताकि चढ़ते समय सूअर देख न ले। गढ़ा बिल्कुल छोटा था। हम एक-दूसरे से टिके बैठे थे। सामने नदी के किनारे कवा के वृक्षों के कारण अधिकांश भाग में झप थी। हाँ, नदी के पार खुला था और जहाँ कहीं छरका थे, अवश्य दिखाई दे रहा था। बैठे-बैठे लगभग दस बज गये होंगे। प्रतीक्षा के कारण समय बहुत लम्बा मालूम होता था, परन्तु चाँद भी चढ़ता जा रहा था; जिससे सन्तोष था कि चलो, बन्दूक अच्छी लगेगी। एकाएक हमें उस पार एक छरके में सूअर अकेला खड़ा दिखाई दिया। वह वहाँ सतर्क खड़ा हुआ, आहट ले रहा था और नदी पार करने के पूर्व अपना भ्रम मिटा रहा था। इस प्रकार प्रायः सब ही जानवर खतरे की जगह से निकलने के पूर्व थोड़े बहुत रुक जाया करते हैं, परन्तु सूअर और इनमें भी अकेला तो बहुत ही सावधानी से जाता है। यदि थोड़ी सी आहट मिल जाय या दाब पड़ जाय तो अपने भ्रम को मिटाने के लिए प्रायः दो घण्टे तक खड़ा रह जाता है। बहुधा तो लौट ही जाता है।

हम तीनों ने आँखें मिला कर एक-दूसरे से कह दिया कि सूअर आ गया। तीनों पत्थर की भाँति बैठे थे और इसी प्रतीक्षा में थे कि सूअर नदी में उतर कर ओझल हो कि सामने रखी हुई बन्दूकें उठा कर घाट की ओर मुहारें कर दी जायँ। दस मिनट बाद सूअर ने डुबकी लगाई और हमारे घाट के ठीक सामने नदी में उतर गया। हम तीनों भी यही समझे कि एक या दो मिनट में घाट चढ़कर सूअर पहुँचता ही है, अतः बन्दूक कन्धों पर लगाये तैयार थे। इस प्रकार पन्द्रह मिनट हो गए। न तो सूअर ही घाट चढ़ा और न कहीं उसके भागने की ही आहट मिली तो हताश होकर हमने बन्दूकें पुनः नीचे रख दीं। दस-पन्द्रह मिनट हो गए होंगे। हम सोच रहे थे कि सूअर नदी-नदी सब गढ़ों को बचा कर निकल गया होगा। यही कारण था कि हम कुछ असावधान भी हो चले थे। इतने में घाट को छोड़कर ठीक हमारे सामने दस गज की दूरी पर ठाँटे किनारे से दो फुट की ऊँचाई पर हवा में सूअर दिखाई दिया। पैर भूमि पर लगने के साथ ही उसने हुँकार की और पूरी खुरी हमारे गढ़े की ओर दौड़ा।

इसके बाद मुझे इतना स्मरण है कि मेरे दाहिने हाथ में बन्दूक थी और मैं गढ़े के बाहर महाराज के ढकेलने से पड़ा हुआ था। कई जगह काँटे भी लग गये थे। भैया राजा काँटों में उलझे पड़े थे, और महाराज उनके ऊपर होकर गढ़े के बाहर कुलाँटें खा रहे थे। सबसे प्रथम मैं ही खड़ा हुआ था। खड़ा तो हो गया था, परन्तु हक्का-बक्का था। इतने में महाराज ने कहा, "देखता क्या है, मार बन्दूक"। यह सब इतने में हो गया जब तक कि सूअर गढ़े से दस गज पीछे निकल गया होगा। कहने के साथ ही मैंने बन्दूक दाग दी, परन्तु गोली ने सूअर की टाँगों में धूल उड़ा दी। इसी के साथ भैया राजा भी खड़े हो गए थे। वे कहने लगे, "वाह हुजूर, आपने तो ढकेल कर शिकार भी बिगाड़ दी और काँटों में भी छिदवा दिया।"

महाराज ने कहा, "अभी क्या हुआ। मार बन्दूक।" सूअर लगभग बीस गज गया होगा। भैया राजा की भी बन्दूक बच गई। यह देख कर मैंने अर्ज की, "आज तक अलोय (जिसे बन्दूक न लगी हो) सूअर को इस प्रकार हरकत करते नहीं देखा। यह भी समझ में नहीं आता कि हुजुर ने मुझे क्यों ढकेला और भैया राजा को पटक कर उनके ऊपर से हुजूर भी क्यों कुलांट खा गए।" महाराज ने गढ्ढे में लगी हुई करोंदी और छैवले की डालों को जो सूअर के निकलने से बिखरी पड़ी थीं, बता कर कहा, "इन्हें देख। सूअर गढ़े को फाड़ता हुआ ठीक उसी जगह से निकला है, जहाँ तू और मैं था।"

इसे कहते हैं औसान। जो भुक्त-भोगी हैं, और कल्पना-शक्ति रखते हैं, ऊपर के वृतान्त को पढ़ कर समझ जावेंगे।

१५

ओरछेश महाराज वीरसिंहदेव

रमाशंकर शुक्ल

यों तो ओरछेश का नाम देशी नरेशों की सूची में है । नरेन्द्र-मण्डल के सदस्य भी हैं । एच०-एच० के दो अक्षरों से उनका नाम विभूषित है । पन्द्रह तोपों की सलामी भी दी जाती है, परन्तु इन सब लक्षणों से युक्त होने पर भी वे वर्तमान युग के शासकों की श्रेणी में शायद ही रखे जा सकें ।

कहा जाता है, शासन की नींव बल और भय है, ठीक भी है । आजकल हिटलर और मुसोलिनी दमन-शक्ति का आश्रय ले कर अपनी सत्ता स्थापित किए हैं । चारों ओर पाशविक बल का प्रयोग किया जा रहा है । शासक का नाम लेते ही हमारे हृदय पर एक ऐसे अद्‌भुत पुरुष का चित्र अंकित होता है, जिसमें कठोरता हो, निरंकुशता हो, अनुशासन और दमन-शक्ति हो । आजकल की हुकूमतें प्रजा के लिए नहीं हैं, बल्कि प्रजा उन हुकूमतों की ध्येय-पूर्ति की सामग्री है । इन हुकूमतों का सिद्धान्त है कि 'भय बिनु होत न प्रीति ।' स्वभावत: आतंकवाद का बाजार गरम है ।

ऐसे युग में हमारे ओरछाधीश उल्टी-गंगा बहा रहे हैं । फरमाते हैं कि बिना प्रीति के भय हो ही नहीं सकता और जब-प्रीति है, तो बल की आवश्यकता ही नहीं । भला बताइए, कौन इन्हें शासक कहने की हिम्मत करेगा ? शासन में प्रीति की बात किसकी समझ में आयगी ? परन्तु इनका ढंग निराला है । आपने एक बार भाषण देते हुये कहा था, "मैं प्रजा के हृदय का राजा बनना चाहता हूँ ।" वास्तव में उनकी शासन-शैली इसी मूल-मन्त्र के आश्रित रहती है । उनका शासन प्रीति पर, विश्वास पर, समता और क्षमा पर अवलम्बित है । इसलिए सरकारी तौर से देखने वाले को ओरछेश के पास वे आडम्बर नहीं दिखाई पड़ेंगे, जिनसे आतंकवादी शासन युक्त होते हैं ।

अपने कर्मचारियों से काम लेने का तारीका भी अनोखा है । अपना निर्णय हुक्म के रूप में देना बहुत कम पसन्द करते हैं । अधिकतर वह परामर्शदाता के रूप में ही सामने आते हैं । अपनी बात का, तर्क द्वारा, जब तक दूसरे को कायल न कर दें तब तक उसके पालन करने के लिए बाध्य नहीं करते । सब कुछ समझने के बाद भी उनका यह कहना बहुत स्वाभाविक है कि "फिर जैसा आप ठीक समझें ।" हर

एक उनसे मिलकर यही समझता है कि वे किस जादू से अपने विपक्षी को अपनी ओर कर लेते हैं। मन्त्रि-मण्डल की बैठक को देख कर ऐसा ज्ञात होता है जैसे किसी एक परिवार के सदस्य आपसी बातें कर रहे हों। यह पता नहीं चलता कि इनमें राजा कौन है। सभी राजा नजर आते हैं।

वे बहुधा यह कहा करते हैं किसी को उत्तरदायी बनाने का सबसे सफल साधन यही है कि उसको उत्तरदायित्व सौंपा जाय। पहले विश्वास किया जाय, भूल करने पर उसे सुधारने का अवसर दिया जाय, तभी कोई पुरुष या जन-समाज उत्तर-दायित्व के महत्व को समझ सकता है। यही कारण है कि अपनी प्रजा को मत-स्वातन्त्र्य प्रदान करते समय, अथवा शासन में भाग लेने के लिए प्रजा-मण्डल तथा धारा-सभा स्थापित करते समय, उन्होंने इस थोथी दलील की कुछ भी परवाह नहीं की कि प्रजा में कितने प्रतिशत शिक्षित हैं, अथवा अशिक्षितों को अधिकार देना खतरे से खाली नहीं है। उनका कहना है, "हित अनहित पशु हू पहिचानें।" राजनैतिक अधिकारों में प्रजा को सम्मिलित करने की बातें सुनने में तो बहुत आती हैं, परन्तु ऐसे बिरले ही हैं, जो अपने वचनों को पूरा कर दिखाएँ। ओरछाधीश ऐसे ही बिरले शासकों में से हैं, जिन्होंने इस सिद्धान्त को राजनैतिक क्षेत्र में सफल बनाया है।

उनमें विश्वास करने की शक्ति बहुत बढ़ी-चढ़ी है। यहाँ 'शक्ति' शब्द का प्रयोग किया गया है, क्योंकि विश्वास करने के लिए भी, चौबे बनारसीदास जी के शब्दों में, 'मेण्टल हाइजिन' अथवा बुद्धि-व्यायाम की आवश्यकता है। साधारण आदमी इस शक्ति का उपार्जन नहीं कर सकता है। कभी-कभी इस आदत के लिये उन्हें उलाहने भी मिलते हैं। यहाँ रामायण का वह प्रसंग याद आ जाता है जब भरत को चित्रकूट पहुँचते देखकर लक्ष्मण बड़े सशंक हो रहे थे। जब उन्होंने देखा कि श्री रामजी तो बिल्कुल निश्चिन्त हैं—अभी तक भरत पर उनकी प्रीति वैसी ही दृढ़ है—तो उनसे न रहा गया। कहने लगे :

"नाथ स्वामि शठ सरल चित, शील सनेह निधान।
सब पर प्रीति प्रतीत अति, जानहु आपु समान।।"

देखने में यह रामचन्द्रजी की प्रशंसा मालूम होती है, परन्तु 'जानहु आप समान' कह कर लक्ष्मण ने, वास्तव में, उन्हें अच्छा उलाहना दिया। ओरछेश भी सदा दूसरों को 'आप समान' समझ कर 'प्रीति और प्रतीत' ही से काम लेते हैं। इससे कभी-कभी साधारण आदमी को ताव आ जाय तो कौनसी आश्चर्य की बात है।

परन्तु वह विश्वास कैसे न करें, उनकी दण्ड-नीति भी तो अजीब है। फरमाते हैं, "बड़ी मार करतार की मन से दिया गिराय।" उनका तर्क है कि इस नीति का प्रभाव तभी प्रत्यक्ष हो सकता है जब दण्ड देने वाला दिल लगाना भी जाने। जब किसी को दिल पर चढ़ा नहीं सकता तो गिरायेगा किसे और कैसे? और दिल मिलाने के लिए--हृदय का राजा बनने के लिये—प्रीति और प्रतीत की आवश्यकता है। इस

दलील के विरुद्ध भला क्या आपत्ति उठाई जा सकती है ? परन्तु कितने शासक इनकी इस आदत पर इन्हें अपनी श्रेणी में गिनने को तैयार होंगे ? न गिनें, ओरछेश को इसकी परवाह भी नहीं है।

'प्रीति और प्रतीत' के सिद्धान्त को मानने वाला कटु-भाषी कैसे हो सकता है। यहां तक कि वह अपने हुक्मनामे निकालते समय भी ललित-भाषा से काम लेते हैं। कभी-कभी ऐसी मीठी चुटकी लेते हैं कि देखते ही बनता है। जहाँ और शासक नाराजगी और डाट-फटकार से काम लें, वहाँ उनकी चातुरी और माधुरी देखने योग्य है। सुनिए कुछ उदाहरण :

एक आदमी की भैंस खो गई। दरबार ने पता लगाया तो मालूम हुआ कि प्रार्थी की असावधानी से भैंस दूसरे राज्य में चली गई, जहाँ जरूरी कार्यवाही के बाद भैंस नीलाम कर दी गई। प्रार्थी को समझा दिया गया कि अब भैंस नहीं मिल सकती। मगर प्रार्थी ने उस्तादी की। दौरे में महाराज से 'विन्तवार' हुआ, "हुजूर, भैंस का पता चल गया है, परन्तु दरबार को उसे वापस मँगाने में काफी समय लग जायगा। मेरे घर-बार का काम उसी भैंस से ही चलता था। अब क्या करूँ।" आपने फट से ५०) देकर कहा कि दूसरी भैंस खरीद लो। जब तुम्हारी खोई हुई भैंस मिल जाय तो रुपये वापस कर देना। जब दरबार को यह हाल मालूम हुआ तो बड़ी लम्बी-चौड़ी रिपोर्ट की गयी कि श्रीमान को प्रार्थी ने धोखा दिया। उससे रुपये वापस लिये जाएँ और उसे दण्ड भी दिया जाय। उत्तर में उन्होंने पत्रावली पर मन्त्री को आदेश कर लिखा :

"आपका लिखना यथार्थ है। परन्तु पचास रुपट्टी की तो बात ही है। कबीर की इस साखी के अनुसार कि 'आप ठगे सुख होत है और ठगे दुख होय' आप प्रार्थी को क्षमा कर दें। और उसे बुला कर समझा दें कि उसकी पोल खुल गई।"

वह मनुष्य की कमजोरियों और मजबूरियों को खूब समझते हैं और उन्हें क्षमा करने के लिए बहुत बड़ा दिल भी रखते हैं।

और सुनिए। उनकी आज्ञा थी कि राज्य-कार्य में नागरीलिपि का प्रयोग किया जाय। परन्तु फिर भी एक मनचले अफसर ने एक रिपोर्ट अँग्रेजी ही में लिख डाली। रिपोर्ट पढ़ कर निम्न आज्ञा लिखी :

"मेरी कई बार आज्ञा हो चुकी है कि नागरीलिपि का प्रयोग होना चाहिए, परन्तु फिर भी यह रिपोर्ट अँग्रेजी में लिखी गई है। बैताल ने ठीक ही लिखा है कि "बैताल कहे विक्रम सुनौ, चतुर चुप्प कैसे रहें।" कैसा व्यंग है ? समझदार के लिए मौत है।

समता की भावना उनमें कूट-कूट कर भरी है। इस भावना से प्रेरित होकर वह कभी-कभी यह बिल्कुल भूल जाते हैं कि वह राजा भी हैं। कभी-कभी ऐसा अवसर भी आ जाता है कि जब उन्हें परिस्थिति से मजबूर हो कर राजा का रूप

धारण करना पड़ता है। उस समय बहुधा वह चिढ़ कर कह उठते हैं "मैं राजनैतिक कार्यों के लिए मिस-फिट हूँ।" हालांकि राजनैतिक क्षेत्र में वह इतने बढ़े-चढ़े हैं कि उनको लोग खुल्लमखुल्ला क्रान्तिकारी कहने लगे हैं। जो बातें लोग कल्पना में नहीं लाते, उनके लिए उनकी सूझ और तत्परता देख कर यही समझ पड़ता है कि इनका जन्म कई युग बाद होना चाहिए था। जिन लोगों को इनके साथ बुन्देलण्ड कोओपरेटिव ग्रुप में काम करने का अवसर मिला है, वह यह देख कर दंग हो जाते हैं कि वह छोटे-बड़े के भेद-भाव से कितने दूर हैं। सर्व-कल्याण के लिए वह अपने पद, अपने स्वार्थ, अपने मान और यहाँ तक कि अपने राजस्व को तिलांजलि देने के लिए हमेशा तैयार बैठे रहते हैं। बुन्देलखण्ड-प्रान्त-निर्माण की योजना को ही ले लीजिए। इसकी सूझ को देखकर ओरछेश की बात कौन मानेगा कि वे राजनीति नहीं जानते अथवा राजनैतिक क्षेत्र के लिए मिस-फिट हैं। इस योजना के प्रति उनकी लगन, इसके लिए उनके त्याग की मात्रा तथा उत्साह को देख कर कौन यह नहीं कहेगा कि लोक-कल्याण के लिए वे क्या-क्या कर सकते हैं। यह अवश्य है कि जिस वातावरण में उनको अपनी योजना रखनी पड़ती है, वह उनके अनुकूल नहीं है। जहाँ नरेशों को और शासकों को अपने अधिकारों को सुरक्षित रखने की रात-दिन चिन्ता लगी रहती है, जहाँ कूटनीति से काम लेने की योजनाएँ बनाई जाती हैं, वहाँ ओरछेश का राग कितना बेसुरा लगता होगा है, यह सहज ही से समझा जा सकता है। इन्हें कितनी संदिग्ध दृष्टि से देखा जाता होगा, यह बताने की आवश्यकता नहीं। फिर भला शासक लोग इन्हें अपनी श्रेणी में किस प्रकार स्थान देने को तैयार हों? और मजबूरी यह है कि ओरछेश अपनी आदतों से बाज आने वाले नहीं दिखाई पड़ते। जब वे प्रजा के हित में ही अपना सब से बड़ा हित समझते हैं तो बाज आ भी कैसे सकते हैं।

उनके लिए इतना ही काफी नहीं है कि वे रईसों के बीच में छोटे-बड़े के भाव को मिटा दें, वरन् वे साधारण-से-साधारण आदमी के साथ समता करने को तत्पर रहते हैं। यही कारण है कि अपने से निम्न श्रेणी के मनुष्यों की भावनाओं को भली भाँति समझते हैं और उनका आदर करते हैं। उन्हें अपने से छोटों के मान का बहुत ख्याल रहता है। यहाँ एक घटना का उल्लेख करना अप्रासंगिक न होगा।

एक बार वाइसराय महोदय से मिलने दिल्ली गए, दो-तीन ठहरने का काम था। चाहते तो गर्वन्मेण्ट हाउस अथवा किसी अच्छे होटल में ठहर जाते। परन्तु बुन्देलखण्ड निवासी एक साधारण स्थिति के सज्जन ने बड़े संकोच के साथ विनय की कि "अगर श्रीमान् को कष्ट न हो तो मेरा घर हाजिर है।" आप झट तैयार हो गए। दिल्ली की एक पतली गली में, उस मकान के छोटे-छोटे कमरों में, आसपास नाना प्रकार के पड़ोसियों से घिरे हुए वह ऐसे रहने लगे, जैसे बरसों से उसी मकान में रहते हों। बाहर एक छोटे से लान पर कुर्सी डाले हैं। पास से सब छोटे-बड़े निकलते जाते हैं। बच्चे हल्ला मचा रहे हैं। बगल में किसी के यहाँ शादी के बाजे कान के परदे फाड़ रहे हैं,

परन्तु ओरछेश को कोई हिचकिचाहट नहीं मालूम होती। साथियों ने, यहाँ तक कि उनके नौकरों ने, एक आधबार मुँह भी सिकोड़ा, परन्तु वह फरमाते हैं, "भाई देखो मैं बुन्देलखण्ड का हूँ। अपने भाई बुन्देलखण्डी के यहाँ न ठहरता तो उन्हें कितना क्षोभ होता और मेरा बुन्देला होने का दावा कितना गलत होता ?" कौन इस भावना को न सराहेगा ?

और मजा देखिए। भारत सरकार के एक बहुत बड़े पदाधिकारी ने उन्हें दावत के लिए आमन्त्रित किया। इन्होंने निमन्त्रण स्वीकार भी कर लिया। दो-तीन दिन बाद जब दावत का दिन आया तो मन्त्री से कहा, "टेलीफोन कर दो कि मेरी तबियत खराब है। दावत में शरीक न हो सकूँगा।" मन्त्री को आश्चर्य हुआ कि अभी तो भले-चँगे थे क्या सचमुच तबियत खराब हो गई ? मन्त्री का भाव ताड़ कर बोले, "भाई, बात यह है कि अभी-अभी अमुक सज्जन (जो साधारण स्थिति के ही आदमी थे) मुझे अपने घर खाना खाने के लिए आग्रह कर गए हैं,। उनके यहाँ न जाऊँगा तो उनका दिल गिर जायगा। इसलिए क्या करता, बहाना ढूँढ़ना पड़ा।" इतने बड़े पदाधिकारी का न्यौता टालने में उन्हें तनिक भी हिचक न हुई। यह उनकी गरीब-परवरी का नमूना है। अपने से छोटों की बात रखने की बान है।

ज्यों-ज्यों ओरछेश के चरित्र का अध्ययन किया जाय त्यों-त्यों यह स्पष्ट होता है कि वे अपनी कोटि के एक न्यारे ही शासक हैं। उनके आदर्शों की, उनके व्यक्तित्व की और उनके जीवन-सिद्धान्तों की छाप उनके शासन-सम्बन्धी, प्रत्येक कार्य पर प्रतिबिम्बित है। वे मनुष्य पहले हैं और शासक बाद में। उनके आदर्श समय से बहुत आगे हैं। परन्तु जिस सच्ची साधना और दृढ़ता से उस ओर प्रवृत्त रहते हैं, उसे देख कर किसे विश्वास न होगा कि वे अपने जीवनकाल ही में, एक-एक करके सभी आदर्शों को, चाहे वे सामाजिक हों अथवा राजनैतिक, वास्तविकता से परिवर्तित कर सकेंगे।

१६

ओरछेश का काव्य-प्रेम

•

रामचरण ह्यारण 'मित्र'

सन् १९३७ की बात है पं० बनारसीदासजी चतुर्वेदी की साधना के कारण कुण्डेश्वर साहित्यिक तीर्थ की मान्यता प्राप्त कर चुका था, वैसे यह स्थान पौराणिक दृष्टि से 'ऊषा-अनिरुद्ध' की क्रीड़ास्थली होने के कारण विख्यात है।

पं० बनारसीदासजी चतुर्वेदी से ओरछानरेश श्री वीरसिंह जू देव अत्यन्त प्रभावित थे। इस कारण कुण्डेश्वर में विराट कवि-सम्मेलनों का आयोजन प्रारम्भ हो गया था। इस अवसर पर मुझे एक पत्र पं० बनारसीदास चतुर्वेदी का श्री पद्मसिंह पुस्तकालय के उद्घाटन के सन्दर्भ में जतारा बुलाने के लिए प्राप्त हुआ।

उनके आग्रह और स्नेह से प्रभावित हो मैं पद्मसिंह पुस्तकालय समारोह में सम्मिलित हुआ। समारोह में महाराज श्री वीरसिंह जू देव भी पधारे थे। चतुर्वेदीजी ने मेरा महाराज से परिचय कराया। इस समारोह में मैंने मंच से तीन बुन्देली के सवैये प्रस्तुत किये, जिससे प्रभावित हो महाराज कहने लगे, "मित्र जू, अब तो हम बुन्देली में फागें ही सुनत रये, तुमने तो सबैया लिखकें नई चलन चला दई। तुमाई जितेक बड़ाई करी जाय थोरी है।" वे सबैया ये थे :

लाज बचाउन जी की सदाँ छत्रसाल जू ने विपदा सदा झेली।
प्रान हतेरी धरें भएँ लक्ष्मीबाई, जहाँ खुल खंगन खेली।
जी के गरें कवि ब्यास[1] ने माल भली कविता-मुकतान की मेली।
पाँव पखारत बेतवती बई- 'मित्र' जू बंदत भूम बुन्देली।

× × × ×

मलयागिरि कीं अति ऊँची पहारियाँ,
बिंध्य कीं पारियाँ देख लजाउतीं।
धरती पै बुन्देल के जन्मबे खों, जियें—
देउन की तिरियाँ ललचाउतीं।
कयं 'मित्र' जू तीनऊं बैरें[2] सुगंध के,
बीजना[3] लै कें, डुलायबे आउतीं।

---

१. स्व० कविवर घासीराम व्यास. २. शीतल मंद सुगंध वायु ३. पंखा.

झुक झूँमतीं, लूमतीं पांवन चूमतीं,
छँऊ-रितें, परकम्पा[1] लगाउँतीं।
बेतवा, सिंघ, घसान बयें—
समुदा[2] सी भरीं रएँ ताल-तलैयाँ।
पारियाँ सौनें सौ रूप धरें,
जब आउतीं हैं धरतीं पै उरैयाँ।
'मित्र' उड़ेलतीं इमृत[3] सौं रस,
डारन-डारन बोल चिरैयाँ।
भूलतीं नैयाँ भुलाएँ बुन्देल की,
आमन, जामुन कीं घनी छैयाँ।

समारोह से विदा होते समय महाराज श्री वीरसिंह जू देव अत्यन्त भावनात्मक शब्दों में बोले,— "मित्र जू, कुण्डेश्वर के कवि सम्मेलन खों अपनों समझ कें आवौ होय।"

कालान्तर कुण्डेश्वर पर होने वाले वसन्तोत्सव कवि सम्मेलन का नियन्त्रण, जो केशव साहित्य परिषद द्वारा आयोजित था, प्राप्त हुआ।

कवियों को प्रोत्साहन की दृष्टि से पुरुष्कृत करने के लिये कविता का नवीन विषय, मधुर-ध्वनि पाठ एवं खड़ी बोली में रचना का प्रतिबन्ध था। निर्णायक थे— राष्ट्रकवि स्व० मैथिलीशरण गुप्त, पं० श्री बनारसीदास जी चतुर्वेदी, मुंशी अजमेरी जी एवं दीवान श्री विध्येश्वरी प्रसाद।

पुरुस्कार की तीन श्रेणी थीं--प्रथम—१०१), द्वितीय ७५) एवं तृतीय ४५) रु०।

कवि सम्मेलन दो दिवस प्रतिदिन दो बैठकों में होने का नियम था। पुरुस्कार के लिये कवियों को अलग से रचना नहीं भेजनी पड़ती थी। कवि सम्मेलन में कवि द्वारा पाठ की हुई रचना पर ही निर्णय लिया जाता था।

कवि सम्मेलन में तीन कवियों की रचनाओं पर निर्णायकों ने निर्णय दिया।

बेतवा— प्रथम : रामचरण ह्यारण 'मित्र'
पुष्करिणी— द्वितीय : शान्ति प्रिय द्विवेदी.
कवि से— तृतीय : मोहन चतुर्वेदी.

बेतवा (प्रथम पुरुष्कृत कृति)

मात बेतवे, वीहड़-वन में, करती हो तुम किसका ध्यान।
किसे सुनाती कल-कल स्वर में, मीठी सरस सुरीली तान।

---

१. परिक्रमा, २. समुद्र, ३. अमृत।

गिरि से गिर-गिर कर अचला पर, बहती हो किस लिये हमेश।
किस कारण वन-वन में निज-तन, कण-कण करतीं परम सुदेश।
किसके लिये गूँथती हो यह, मंजुल-मुक्ताओं की माल।
पहनाओगी कर कमलों से, किसका होगा हृदय निहाल ?
सुनके बचन विहंस-हंस बोली, खोली निज मन की दृढ़ आन।
देशभक्त वीरों की सेवा, करने की है मेरी बान।
यह बुन्देल भूमि है जग में, कर्मवीर वीरों की खान।
जीवन दे-दे सींचा करती, वन वीरों का उद्यान।
प्रबल वीरवर 'वीरसिंह' का, सादर करती हूँ सम्मान।
जिनकी उज्ज्वल-अमर-कीर्ति का—है, बुन्देलों को अभिमान।
मेरे आंगन में चमकी थी, छत्रसाल की तीव्र कृपान।
जननी के बंधन तोड़े थे, कर निज प्राणों का बलिदान।
लक्ष्मीबाई की सुस्मृति का, गाती हूँ, अनुपम-आख्यान।
खोजा करती हूँ दुर्गा की, पद-रज-पावन पुण्य महान।
जिन पर शशि नित रजत राशि को, न्यौछावर करता कर प्यार।
जिनका रवि शुचि-सहस करों से, करता समुदित स्वर्ण शृँगार।
जिन पर नित-प्रति ऊष्मा-सुन्दरी, सादर जाती है बलिहार।
उन चरणों पर अर्पण करने, जाती यह आँसू दो-चार॥

कवि सम्मेलन समाप्त होने पर नरेश श्री वीरसिंहजू देव का दुर्ग की ऊपरी मंजिल पर बसन्त दरबार भरता था। इसमें आगन्तुक कवियों को सादर आमन्त्रित किया जाता था. जिसकी व्यवस्था दरबार की ओर से श्री दाऊजू तैलंग किया करते थे।

मुझे बसन्त दरबार का निमन्त्रण प्राप्त हुआ, जिसमें दरबार में उपस्थित होने की विशेष पोशाक का नोट था। (सफेद चूड़ीदार पजामा, अचकन और पीला साफा)।

आचार्य श्री गयाप्रसाद शुक्ल 'सनेही' कानपुर, राष्ट्रीय कवि श्री घासीराम व्यास, मऊरानीपुर और मैं दरबारी पोशाक से वंचित होने के कारण दरबार में उपस्थित न हो सके, क्योंकि हम लोग खादी की वेषभूषा में थे। जब हम तीनों व्यक्ति उद्यान की आम्रकुंज में बैठे वसन्त वहार का आनन्द ले रहे थे, तब एक कार आई और ध्वनि करके पंडाल के पास आ खड़ी हुई। खिड़की खुली और उसमें से एक राज पुरुष उतरे और हम लोग जहाँ बैठे थे, आते दिखाई दिये।

लपक-लोलैंया का समय था, लेकिन स्व० श्री व्यास जी ने उनको पहचान लिया। वे कहने लगे, वर्णंदे सिंह जू महाराज के लघु भ्राता हैं। इतना

कहते हुये वे उठे और अपना परिचय देते हुए उनसे पधारने को कहा। वे मुस्कराकर बोले—"महाराज आप सब जनन खौं राजा साब ने बुलाओ है। जब आप पौंच जैहो तवई उत्सव की कार्रवाई शुरू हुजे।" स्व० व्यास जी ने तीनों व्यक्तियों की अनुपस्थिति का कारण बताया। इस पर वे पुनः हँसकर बोले "महाराज कवि तो सब जांगां सुतंत्र होतइ, चलवो होय।"

जब हम लोग वहाँ पहुँचे श्री दाऊजू तैलंग ने हम सभी को सम्मानपूर्वक स्थान दिया।

राज्य दरबार के अवलोकन करने का यह मेरा प्रथम अवसर था। ओरछा नरेश श्री वीरसिंह जू देव की गद्दी के समीप विद्यमान थे राजपुरुष (भ्राता आदि) दायें ओर सरदार, बायें ओर दरबारी कवि और सन्मुख गायक और गायिकाएँ आदि।

श्री दाऊजू के आदेशानुसार प्रथम वन्दीजन ने विरदावली का बखान किया, पश्चात् राजकवियों की कविता का पाठ हुआ। जिसमें प्रमुख थे स्व० श्री मुन्शी अजमेरी जी, मुन्शी रामाधीन खरे, अम्बिकेश और ब्रजेश जी। तत्पश्चात् मेरे नाम की घोषणा की गई। मैं आश्चर्य में पड़ गया, क्योंकि न तो मैं राज्य कवि ही था और न प्रशंसात्मक कविता ही लिखता था। एक क्षण को मौन होकर व्यास जी की तरफ देखने लगा। व्यास जी गंभीर मुद्रा में बोले—"कुछ बुन्देलखण्ड के छंद सुनादो--हर्ज क्या है।" मुझे सम्बल मिला और उद्बोधन के रूप में एक दोहा और एक कवित्त 'बेतवा' के सम्बन्ध में प्रस्तुत किया।

मात बेतवे, ओरछे लगी दुर्ग के कान।
वीरसिंह, को सुनादे छत्रसाल की बान।

धन्य-धन्य विमल बुन्देल की बसुन्धरा है, जहाँ बेतवा की यशधारा लहराती है।
तुंगारण्य तीर तुंग तरल तरंगिनी की बूँद-बूँद कोविद कवीन्द्र प्रगटाती है।
स्वरलहरी के ताल-ताल में प्रवीणराय, 'मित्र' रश्मियों के साथ थिरकत आती है।
स्वर्णदान धारा बन जाती वीरसिंह जू की वही छत्रसाल का दुधारा बन जाती है।

कविता से उल्लास के स्थान पर मुझे स्तब्धता दृष्टिगत हुई। सरदार आश्चर्यमयी दृष्टि से एक दूसरी ही आकृति देख रहे थे। ऐसी ही मनोदशा मैंने राजकवियों की अवलोकन की।

मैं विस्मय में पड़ गया, मानो मुझसे कोई अपराध हो गया हो। समझ में आया अवश्य हुआ क्योंकि पन्ना की गद्दी से ओरछे की गद्दी का पुराना असमंजस चला आ रहा है और बेतवा के माध्यम से मैंने छत्रसाल की बान का सन्देश वीरसिंह जू को दिया है, किन्तु कवि आत्मा बोल रही थी कि तुमने कवि का जो दायित्व होता है, उसका निर्वाह किया है, कोई भय नहीं है। और फिर इस राष्ट्रीय युग में अस-

मंजस से नहीं अपितु एक दूसरे की सद्भावना से तथा संगठन एवं शक्ति से ही कार्य चलेगा।

इस मध्य श्री ओरछा नरेश गम्भीर मुद्रा में चारों ओर दृष्टिपात करके बोले—"दाउजू, देखलइ राज के कवियन और राष्ट्र के कवियन में कितनों अन्तर होत।" तत्पश्चात् कहने लगे—"मित्र जू, बेतवा के माध्यम से जो तुमने वात कई, बात पुरानी और भोत बड़ी है। मैं जाके निभावे की राय-रस्ता खोजि हों।" श्री वीरसिंह जू देव के इन ओजपूर्ण एवं राष्ट्रीय भावात्मक शब्दों को श्रवण कर दरबार हर्षित हो उठा।

१७

मानव–'देव'

•

स्व० शोभाचन्द्र जोशी

उस दिन एक मोटर-बस आ रही थी ललितपुर से। सामने थी जमड़ार। उछलती-कूदती। बरसाती यौवन में भूली हुई। भागी जा रही थी तरंगों के रथ पर सवार हो कर।

छोटा-सा सँकरा पुल। बीच-बीच में कई स्थान पर उभरे हुये पत्थर। जैसे भूखे-श्रमजीवी का अस्थिशेष वक्षस्थल।

लारी आगे बढ़ी। चालीस-पचास यात्री उसमें बैठे थे। भारी-भरकम बोझ। गाड़ी एक बार हिली। कुछ देर बगल के दो पहियों पर नाच उठी। उसके बाद—चरमर-चरमर और धमाके का शब्द हुआ। यात्रियों का एक सामूहिक चीत्कार। दूसरे ही क्षण लारी उलटी हो गई। खिड़कियों से होकर यात्री लुढ़क-लुढ़क कर नदी में गिर पड़े, जैसे फटे हुए बोरे में से आलुओं की बौछार होने लगी हो !

पास ही में नदी के कगार पर एक ऊँची अट्टालिका थी। किसी लक्ष्मी के लाड़ले की ओर से प्रीतिभोज दिया जा रहा था। सम्मान्य अतिथियों की भीड़ थी। एकाएक उनमें से एक व्यक्ति चौंक कर उठ खड़ा हुआ। उसकी दृष्टि गई उस ओर, जहाँ नदी की लहरों पर नाश का नृत्य होने लगा था।

वह भूल गया अचानक अपने व्यक्तित्व को—अपने विरुद को—अपने अस्तित्व को। स्वादिष्ट भोजन छोड़कर—साथी संगियों से बिना पूछे—आतिथेय के विस्मय की कोई भी परवा न करते हुए—वह व्यक्ति दौड़ता आया उन्हीं के पास, जो आसन्न मृत्यु से हाथा-पाई कर रहे थे। उसने आव देखा न ताव—और पानी में कूद पड़ा।

आधे घण्टे में सभी यात्री भीगे हुये, कीचड़ में सनी देह लिए, नदी के किनारे जा बैठे। कई के जीवनदीप को उसी एक व्यक्ति ने बुझने से बचा लिया था। उसके बाद वह चला आया वहाँ से। लोग विस्मित-से, मन्त्रमुग्ध-से उसकी ओर देख रहे थे। स्वस्थ, माँसल देह। गेहुँआ रंग। तेज की साक्षात् प्रतिमा। किसी पागल से दिखाई देने वाले व्यक्ति ने प्रश्न किया— "ये कौन थे ?"

कहीं से उत्तर मिला, "महाराज।"

पूछने वाले की आँखें कपाल पर चढ़ गईं। वह बड़बड़ाने लगा · पागल ही तो था ! बोला, "महाराज ?—ये महाराज थे ? झूठ बोलते हो !—ये मानव थे—महामानव ! मानवता का विकसित पुष्प।—राजत्व का यहाँ क्या काम ?"

जय हो मानव की,
जय मानवता की !

१८

ओरछेश की विशेषताएँ

•

स्व० डॉ० हीरालाल अमृतलाल कोठारी

कई वर्षों से श्रीमान् ओरछेश के निकट सम्पर्क में रहने के कारण मैंने उनके महान् परन्तु प्रिय, दृढ़ किन्तु उदार व्यक्तित्व में जिन विशेषताओं का, साक्षात्कार किया है, इस अवसर पर उनमें से कुछ का उल्लेख करूँगा ।

हमारे देश में राजा का क्या आदर्श था ? इसका उत्तर यदि एक ही शब्द में देना हो तो कहा जा सकता है पिता का—महाकवि कालिदास के शब्दों में :

प्रजानां विनयाधानात् रक्षणाद् भरणाद् अपि
स पिता पितरः तासां केवल जन्म हेतवः

प्रजाओं को विनीत शिक्षित बनाने, तथा रक्षण और पोषण करने के कारण वह राजा वास्तविक पिता है, जबकि सांसारिक पिता तो जन्म का कारण मात्र है ।

खेद है कि आजकल अधिकांश नरेश अपने इस आदर्श से पराङ्मुख हो गये हैं, परन्तु ओरछा नरेश में पितृत्व का यह गुण पर्याप्त मात्रा में पाया जाता है । प्रायः बातचीत करते समय मैंने उन्हें कहते सुना है "तुम तो घर के ही हो" और ऐसा नहीं कि वे इसे केवल मौखिक शिष्टाचार के रूप में ही कहते हों । वस्तुतः उनका व्यवहार इतना सरल और सहज होता है कि उसे देख कर मन मुग्ध हो उठता है । जिस प्रेम-पूर्ण रीति से परिवार का मुखिया अपने कौटुम्बिक झगड़े निबटाता है उसी तरह वे हमारे प्रजावर्ग के भी झगड़े मिनटों में निबटा देते हैं । आजकल के समय में यह गुण इतने विकसित रूप में अन्यत्र मिलना कठिन है ।

श्रीमान् ओरछेश में दूसरी विशेषता जो मुझे मिली वह है उनकी पारस्परिक सहयोग की भावना । उनके सारे निजी कार्य इसी तरीके से सम्पन्न होते हैं और वे अधिकारियों को भी इसी भावना से काम करते देखना पसन्द करते हैं । उनका व्यवहार सदैव प्रेमपूर्ण सहयोगी का सा होता है । शासन की गन्ध तो उसमें बिलकुल नहीं होती ।

जिस तीसरे गुण के विषय में मैं दो शब्द कहने जा रहा हूँ वह गुण उदारता है । यद्यपि वह गुण श्रीमान् की वंशपरम्परा का रहा है और इस दृष्टि से

यह प्राचीन भी कहा जा सकता है तथापि पूँजीवाद और स्वार्थपरता के इस युग में मेरी सम्मत्ति में यह गुण निःसन्देह नवीन अथवा विशेष ही माना जाना चाहिये। साहित्य तथा समाज सम्बन्धी कार्यों में उनके उदारतापूर्ण दान प्रसिद्ध ही हैं। उनके अतिरिक्त उनकी दानशीलता के ऐसे अनेक दृष्टांत हैं जिनका पता सर्व साधारण को तो क्या विशिष्ट व्यक्तियों को भी नहीं। श्रीमान् की प्रकृति की इस विशेषता का प्रभाव राज्याधिकारियों पर भी पड़ा है।

मुझे इस तरह की कई घटनाओं को जानने का सौभाग्य प्राप्त है क्योंकि चिकित्सक के नाते मेरा श्रीमान् से तथा राज कुटुम्ब से निकट सम्बन्ध रहता है। मैंने कई मर्तबा देखा है कि जब-जब कोई गरीब आदमी अपने दुख-दर्द की कहानी श्रीमान् के कानों तक पहुँचाता है तो उसे अपना मुँह माँगा पुरस्कार मिलने में विलम्ब नहीं होता। श्रीमान् कभी ऐसा विचार नहीं करते कि इससे कम में भी उस व्यक्ति का काम चल सकता है।

कई बार बीमारों के लिए जब किसी बड़े डाक्टर की सलाह आवश्यक हुई या कोई बड़ा आपरेशन हुआ अथवा किसी विशेष दवा की जरूरत हुई तो वे उन्हें अपने जेबखर्च में से पूरी सहायता दे देते हैं।

प्रजाजनों के स्वास्थ्य के बारे में वे वैसी ही चिन्ता प्रगट करते हैं जैसे कोई पिता अपने बच्चे की बीमारी के विषय में डाक्टर से पूछताछ करता है।

प्रजा तथा अपने आसपास के व्यक्तियों की बीमारी के विषय में कभी-कभी अत्यधिक उत्सुकता देख मैं आश्चर्यचकित हो उठता हूँ। साधारण से साधारण व्यक्ति की बीमारी में उनकी चिन्ता देख कर हृदय प्रफुल्लित हो जाता है। इसी का यह परिणाम है कि आज राज्य का हास्पिटल बुन्देलखण्ड के राज्यों में सबसे उन्नत है। इसी प्रकार राज्य का जेल भी एक आदर्श विभाग है। कैदियों को अत्याधिक बन्धन में रखना उन्हें सहन नहीं होता। इसीलिये यहाँ के कैदियों को अनेक सुविधाएँ प्राप्त हैं। कैदियों को लिखाने-पढ़ाने की ओर भी उनका ध्यान सदैव रहता है।

इनके अतिरिक्त उनका एक और महान् गुण है अध्ययनशीलता। जिसे मैं इसलिये विशेषता कहता हूँ कि इतनी अधिक व्यस्तता तथा कार्यभार होते हुए भी कभी-कभी मैंने उन्हें १४, १४ घण्टे तक मोटी-मोटी किताबों से उलझते देखा है। स्मरण शक्ति का यह हाल कि किसी भी नवीन पुस्तक को पढ़ कर उसका सार बिना किसी जरूरी बात को छोड़े हुए किसी भी समय हम लोगों को सुना दें। रात को एक बजे तक मैंने उन्हें अध्ययन करते देखा और फिर प्रातःकाल सूर्योदय के प्रथम ही नित्य कर्म से निबट कर पुस्तक फिर हाथों में पहुँच जाती है!

जिनको उनके इस विशाल अध्ययन का पता नहीं है वे उनके विविध विषयों की खरी और गहरी जानकारी देख कर दंग रह जाते हैं। चिकित्सक के नाते कभी-कभी मुझे उनके इस स्वभाव से कठिनाई में पड़ जाना पड़ता है।

सबसे अन्त में उनकी एक और विशेषता का जिक्र करूँगा, जो मेरी दृष्टि में सबसे महान् है। और वह है उनकी आडम्बर शून्यता। एक श्रेष्ठ राज्य के अधिपति होते हुए भी वे कितनी सादगी से रहते हैं और कितनी सरलता से मिलते-जुलते हैं। सच पूछिये तो आडम्बर से दिखावे से, उनको सख्त नफरत है।

किसी राजा की रहन-सहन देखिये तो आप दिखावे से भयभीत हो उठेंगे, आपको वह एक बबाल मालूम होगा। रईसों की यात्रा तो एक हंगामे से कम नहीं होती। परन्तु श्रीमान् के घूमने जाने या सुदूर यात्रा में आपको कोई अन्तर न मालूम होगा। लम्बी से लम्बी यात्रा में एक से अधिक आदमी वे शायद ही साथ में रखते हों। गाड़ी में भी रिजर्व वगैरह की झंझट वे कभी पसन्द नहीं करते। मैंने संक्षेप में ही महाराजा साहब की विशेषताओं का उल्लेख कर दिया है।

१९

ओरछेश, खिलाड़ी के रूप में

•

स्व० त्रिभुवन कुमार पांडे

"फिर ससुरी रफ में घुस गई ! काय रे घनश्याम गेंद मिल गई ?" महाराज साहब ने मुँह बनाया और मेरी ओर मुड़ कर बोले, "कुछ आज खेलते ही नहीं बनता ।"

"हाथ में कुछ तकलीफ-सी लगती है। हिट लगाते समय आपका हाथ हिचक रहा है।" मैंने कहा।

"अरे भई, कंकरारी हो गई है।"

मैंने दबी आवाज में कहा, "महाराज, जब तक फोड़ा ठीक न हो जाय, खेल रोक ही दिया जाता तो…"

"नहीं-नहीं। कब तक ठीक नहीं होगा ? मैं तो खेलता ही जाऊँगा।"

खेल का ऐसा शौकीन कम-से-कम मैंने तो आज तक कोई देखा नहीं। कभी वह भी दिन होता था कि हम लोग नींद की खुमारी हटाते-हटाते गाफ-कोर्स पर १०-१५ मिनट देर से पहुँचते, परन्तु महाराज को सदैव फर्स्ट टी पर ब्रासी घुमाते हुये पाया। महाराज का खेल निरन्तर चलता ही रहता। कभी मई के महीने में सूरज आग उगलता था, कभी बारिश की फुहारें होतीं, कभी चिल्ले का जाड़ा पड़ता, लेकिन उन्हें खेल से मुँह मोड़ते कभी न देखा।

यूँ तो व्यक्तिगत क्रीड़ा को पराकाष्ठा पर अकसर पहुँचते देखा गया है। वास्तव में खिलाड़ी की तारीफ इसमें है कि वह किसी भी खेल में दूसरों की रुचि पैदा कर दे। महाराज ने केवल रुचि ही पैदा नहीं की, बल्कि अन्य खिलाड़ियों को प्रोत्साहित कर हर तरह से उनकी सहायता भी करते रहे। कई ऐसे महानुभाव थे, जो किसी भी प्रकार के खेल से कसम खा चुके थे। आज उन्हें गाफ का ऐसा नशा चढ़ा है कि बीसियों गेंदें काटकर फिर भी बराबर खेल रहे हैं, जिन्हें सौ कदम चलना भी दूभर होता था, गेंद के पीछे चार-चार मील चलना उनके लिए नित्य-नियम हो गया।

एक वह भी खिलाड़ी होता है, जो घण्टे-आध-घण्टे तक दर्शकों को अपना कौशल दिखला कर उनकी तालियों पर सिजदा करता हुआ अपनी राह लेता है। मजा तो जब है कि जिस रस में तुम डूबते हो, उसमें औरों को भी सराबोर कर दो।

ओरछेश खिलाड़ी हैं, परन्तु उनका खेल किसी कृपण की निधि न होकर खुला खजाना है।

२०

वह वीर पुरुष थे

स्व० हरबलसिंह

[महाराज के साथ स्व० हरबलसिंह जी को भी डेली कालेज इन्दौर में पढ़ाने का सौभाग्य हमें प्राप्त हुआ था। स्वभावतः उनके हृदय में मेरे प्रति बड़ी श्रद्धा थी। एक दिन स्वयं ही उन्होंने मुझे ये संस्मरण सुनाये थे। —बनारसीदास चतुर्वेदी]

एक बार हम जंगली सुअरों की शिकार के लिए ओरछा के जंगलों में जाने वाले थे कि लंगोटी बाँधे हुये एक हृष्ट पुष्ट साधुजी ने, जो ओरछा के निकट सातार नदी के किनारे रहते थे, हमसे कहा,

"दीवान साहब, हमको भी शिकार में साथ लेते चलिये।" हमने उनसे कहा, "पुजारीजी, आप हमारे साथ चलकर क्या करेंगे? यह तो हिंसा का काम है और आप इस पाप-कर्म को क्यों देखना चाहते हैं?" वह साधुजी बोले,

"हमें अगर आप एक बन्दूक दे दें तो हम भी अपने भाग्य को आजमा देखेंगे।"

मुझे साधुजी की इस बात पर हँसी आ गई और मजाक-मजाक में मैंने उन्हें बन्दूक दे दी और अपने साथ ले लिया। हम लोग शिकार के लिए अलग-अलग जगहों पर बैठ गये और दिल्लगी के लिये साधुजी को सबसे दूर बिठला दिया। एक मजबूत अकेला (जंगली सुअर) निकला, उस पर मैंने और मेरे साथियों ने गोलियाँ चलाईं, पर वे निशाने से दूर चली गईं। इतने में हमने क्या देखा कि साधुजी की एक गोली से वह भागता हुआ सुअर धराशयी हो गया। जब शिकार-पार्टी जंगल से लौट रही थी तो मैंने साधुजी के पास अकेले में जाकर पूछा, "आप कोरमकोर साधु तो हैं नहीं! अपना भेद हमें बतलाइये।"

साधुजी ने कहा, "भेद की कोई बात हो तो हम बतलावें। हम तो मन्दिर के पुजारी हैं।" बहुत दिनों बाद मुझे साधुजी ने अपना परिचय दिया और तब मैं भी उनकी पार्टी से सहानुभूति रखने लगा। हाँ, महाराजा साहब को मैंने यह सूचना देना आवश्यक समझा था कि चन्द्रशेखर आजाद ने हमारे राज्य में शरण ली है। महाराज

वीर पुरुष थे और उन्हें इस बात से कुछ भी डर नहीं था कि यदि ब्रिटिश सरकार को पता लग गया कि आजाद हमारे राज्य में छिपे हुये हैं तो वह क्या कार्यवाही करेगी।

अस्तौन ग्राम का वनरखा मिठई उन दिनों ओरछे के जंगलों में तैनात था और वह भी बड़े अभिमान के साथ कहता है कि उसने भी आजाद के दर्शन किये थे।

२१
श्रीमान ओरछेश के तीन रूप

श्री बद्री नारायण सिंह, बी. ए., एल-एल. बी.

दिसम्बर सन् १९३७ की बात है। उन दिनों श्रीमान् ओरछेश का दौड़ा जतारा तहसील में हो रहा था। मैं भी साथ में था। भैया राजा मेजर सोहनसिंह जी और सरदार रामलाल जी बल्देवगढ़ तहसील ही से श्री जू देव के साथ-साथ आ रहे थे। जिन घटनाओं का मैं उल्लेख कर रहा हूँ वे साहपुर में घटित हुई थीं। चन्देरा से लिधौरा होते हुए उस दिन सालपुर में कैम्प था। यों तो अनेक व्यक्ति दौड़े में पीछे-पीछे लगे रहते थे, किन्तु एक दिन एक कृषक को एक चार वर्ष के छोटे बच्चे के साथ चन्देरा ही से कैम्प के पीछे-पीछे फिरते हुए देखा। इतने आदमियों में से उसकी ही उपस्थिति का अनुभव मुझे कैसे हुआ इसका मैं विशेष कोई कारण तो नहीं बता सकता, किन्तु हो सकता है कि उसकी आकृति पर मार्मिक वेदना की कुछ ऐसी छाप थी जिससे मन उसके प्रति बरबस आकर्षित होता था। श्री जूदेव का दौड़ा गड़ला पर हो रहा था। रास्ते में साथ-साथ चलते उसे देखता था पर भीड़-भाड़ के कारण पूछ नहीं पाता था। कैम्प के निकट वह दिखलाई नहीं पड़ता था ताकि उससे मैं कुछ पूछ सकूं। आखिरकार सरदार रामलाल जी को वह मिल गया और उन्होंने उससे उसके दुःख के कारण पूछे। बड़ी करुण कहानी थी। मातौल के एक ठाकुर ने उसकी स्त्री को बहकाकर अपने पास रख लिया था। उसका चार वर्ष का लड़का माँ के पवित्र प्रेम से वंचित हो गया था। उसकी गृहस्थी बिगड़ गई थी। उसने ठाकुर से लाख प्रार्थना की, उस अबोध बालक को उनके पैरों पर रख दिया, किन्तु ठाकुर साहब का कठोर हृदय रंचमात्र भी न पिघला। ये ठाकुर मातौल के जागीरदार थे और वह दांगी जाति का किसान, उनकी ही जागीर का निवासी और उनका आश्रित था। निर्बल था, निस्सहाय था। न्यायालयों में बिना गवाही के कोई अभियोग चल ही नहीं सकता। ठाकुर साहब के मुकाबिले इस गरीब की गवाही कौन देता! मन मसोस कर बैठ रहा। इतने में श्री जूदेव का पधारना उस ओर हुआ क्या जाने अदालतों के कर्णधार अदालतों की ही तरह इसे ठुकरा न दें। साक्षी व सबूत माँगे जायेंगे, वह कहाँ से दे पावेगा। किन्तु मरता क्या न करता। इन्हीं भावनाओं की उथल-पुथल में जो कुछ रहा सहा बिखरा हुआ साहस उसमें था उसे एकत्रित करके उसने श्री जूदेव के एक अंग रक्षक से प्रार्थना

कर ही दी। उसकी करुण कथा से द्रवीभूत हो कर उन्होंने उसकी पुकार महाराज तक पहुँचा दी। साहपुर के कैम्प पर ११ बजे उसकी पेशी हुई। नित्य प्रति की नाईं निकटवर्ती गाँवों के बहुत कृषक जमा थे और इसी झुण्ड में वे ठाकुर साहब भी थे।

पेशी के समय उपस्थित रहने की मेरी ड्यूटी थी। महाराज ने दीन दांगी की की वेदनामय कहानी सुनी। मुद्रा गम्भीर हो गई, ठाकुर की पुकार हुई और वे आकर उपस्थित हुए। श्री जूदेव ने पूछा, क्या तुमने इस किसास की स्त्री को रख लिया है। ठाकुर ने इन्कार किया। उन्हीं के गाँव के एक और ठाकुर से जिनके नाम जागीर है बुला कर पूछा। उन्होंने भी इन्कार किया। एक अहीर था उसने अपनी इस मामले से अनभिज्ञता प्रकट की। तब ईसौन के जागीरदार साहब से पूछा। उन्होंने स्पष्ट शब्दों में कहा कि दांगी जो कुछ कह रहा है सत्य है। फिर क्या था तमोगुण का श्री जूदेव में पूर्ण रूप से प्रादुर्भाव हुआ। ठाकुर ने बड़ा भारी सामाजिक अपराध किया था। एक अबोध बालक को मातृहीन तथा एक गरीब किसान को स्त्रीविहीन किया था। और ऊपर से झूठ भी बोल गया। ठाकुर और उनके दोनों झूठे सहयोगियों की मुश्कें बांधी गई और शारीरिक ताड़ना भी दी गई। अपराध की तुलना कर ही दण्ड दिया गया। जनता विशेष रूप से प्रभावित हुई। उद्दण्डों की उच्छृंखलता रोकने के लिए एक उदाहरण हो गया और एक गरीब की उजड़ी हुई गृहस्थी फिर से आबाद हो गई।

इसके पश्चात् शिकार खेलते हुए अगले कैम्प पर चलने के लिए गड़ला में सवारी हुई। नित्य प्रति की भाँति मैं भी बुलाया गया। अपने दफ्तर के कार्य में व्यस्त होने के कारण मैं भोजन नहीं कर पाया था, कि दांगी वाली पेशी हुई और तुरन्त ही सवारी हो गई। साहपुर के ताल पर पहिले चिड़ियों का शिकार होना था, उसके बाद जंगल की हंकाई होनी थी। मैं अपने नौकर को ताल पर भोजन लाने का आदेश कर श्री जूदेव के साथ चलता बना। ताल पर पहुँच कर भिन्न-भिन्न स्थानों पर लगात लगी। मुझे तो भोजन करना था, मैं बाँध ही पर रह गया। एक ओर श्री जूदेव चले गये और दूसरी ओर भैया राजा और रामलाल जी। शिकार प्रारम्भ हुआ। चिड़ियाँ आकाश में उड़ने लगीं और शिकारियों के छर्रे से घायल होकर कोई तो पानी में और कोई जमीन पर गिरने लगीं। यहाँ तो भूख के मारे पेट में चूहे दौड़ रहे थे, अंतड़ियों में बल पड़ रहे थे चिड़ियों का शिकार कौन करे? नौकर अभी तक भोजन लेकर नहीं आया था। मन ही मन उस पर जल भुन रहा था। भला ऐसी दशा में बन्दूक कौन उठाता। चिड़ियों ने भी देखा कि तीन ओर से तो धांय-धांय हो रही है बंधान की तरफ शान्ति है अतः उसी ओर भागना शुरू किया। शिकार कोड में किसी शिकारी की तरफ से जानवर अथवा पक्षी का निकल जाना अपराध माना जाता है। बन्दूक चला दो, भले ही न लगे, तब तो कोई बात नहीं, पर बन्दूक ही न उठावो, यह बहुत ही अनुचित है। किन्तु भूख के मारे यहाँ तो सभी कोड भूल गये थे। इतने में ही क्या देखता हूँ कि श्री जूदेव के मारे हुए जलपक्षी को लाने के लिए एक ढीमर

ताल की खजरी में फँस गया और चिल्लाने लगा कि मैं डूबा मैं डूबा। बिला किसी हिचकिचाहट के अपने शरीर पर का कोट फेंक कर महाराज उस ढीमर को मृत्यु मुख से बचाने के लिए जल की तरफ दौड़े। वहाँ और भी आदमी बैठे थे उनसे उन्होंने कुछ नहीं कहा। इधर हम तीनों आदमी जो एक दूसरे से बहुत दूर थे चिल्ला-चिल्ला कर कहने लगे कि हुजूर न जाएँ तला में खजरी है। पर उन्होंने इसकी कुछ परवाह नहीं की, जल में बढ़ते ही गये, मानो हम लोगों की चिल्लाहट ही न सुनी हो। उनका एकाग्रचित्त उस ढीमर की ओर था ओर उसे सान्त्वना देते जाते थे कि 'घबराना नहीं मैं आया'। इतने में भगवान की असीम दया से वह डूबता हुआ ढीमर ही चिल्ला उठा कि "हुजूर न आवें मुझे जमीन मिल गई।" तब कहीं जा कर महाराज रुके।

जो लोग यहाँ के तालाबों और उनमें जमीं हुई खजरी से अनभिज्ञ हैं उन्हें यह साधारण घटना प्रतीत होगी। वे कदाचित सोचेंगे कि ढीमर तैरता न होगा और महाराज अच्छे तैराक हैं इस वजह से वे उसे बचाने के लिए पानी में कूद पड़े होंगे। ऐसी बात नहीं है। खजरी ऐसी बला की नागफाँस है कि उसमें फँस जाने से तैराकों की भी बुद्धि काम नहीं करती। जितना ही उसमें से निकलने की चेष्टा करो उतना ही फँसते जावो ! हाँ, यदि भाग्यवश जमीन पैर के नीचे मिल गई तब तो जान बच जायगी। मखमली फर्श पर चलने वाले, कोमल गद्दे व तकियों पर लेटने वाले राजा रईस तथा श्रीमन्त इसकी कभी स्वप्न में भी कल्पना कर सकेंगे कि एक ढीमर की जान संकटापन्न देखकर ओरछेश ने अपनी जान की बाजी लगाई थी ? पर मैं तो अपनी आँखों देखी कह रहा हूँ। और कौन अकेले मैंने ही देखा ? उस घटना को तो वहाँ के एकत्रित जन-समुदाय ने देखा और भूरि-भूरि प्रशंसा की, किन्तु इस प्रशंसा का प्रभाव उनके ऊपर कुछ भी नहीं पड़ा। वे वैसे ही शान्त और गम्भीर थे जैसे कोई बात ही न हुई हो।

यह १२ बजे की घटना है। चिड़ियों का शिकार एक बजे तक होता रहा। बाद में सब लोग बंधान पर इकट्ठे हुए, जहाँ से गड़ला पर बैठ कर हंकाई के लिए जाना था। श्री जू देव ने पहुँचते ही मुझ से पूछा, 'आपने बन्दूक क्यों नहीं चलाई, 'बहुत सी चिड़ियाँ' आप की तरफ से निकल गईं ?' कुछ तो भूख के कारण, कुछ नौकर की असावधानी पर क्रोध में मेरा चित्त ठिकाने में नहीं था। कुछ आतम विस्मृति सी थी। मैंने छूटते ही कहा, "प्रातःकाल हुजूर गुस्से में थे, इस समय मैं गुस्से में बैठा हूँ ?" जिन लोगों को महाराज के सम्पर्क का सौभाग्य प्राप्त नहीं हुआ है वे यही समझेंगे कि मैंने इस अशिष्ट उत्तर के लिए झिड़की खाई होगी, किन्तु इसके बिलकुल विपरीत हुआ। अर्द्ध स्मित मुद्रा से बहुत ही कोमल और मधुर शब्दों में महाराज ने कहा, "जनाब की नाराजगी किस बात पर है ?" इन शब्दों ने मेरे विकृत मस्तिष्क पर हिमकण के छींटों का काम किया। मैं सहम गया। मुझे अब प्रतीत हुआ कि आवेश में मैंने राज्य के सर्व-प्रथम व्यक्ति से क्या कह दिया ? मैं इसी उधेड़बुन में था कि खाना ले कर नौकर भी पहुँच गया। मैं तो नीचे देख रहा था। महाराज ही की

निगाह उस पर पड़ी। श्री जू देव ने फरमाया, "लीजिये भोजन भी आ गया आप भोजन कर लें तब हँकाई को चलें"। कोई तानाज़नी नहीं थी उसी प्रकार सरल और मधुर वाक्य थे। मैंने बहुत कुछ अनुनय विनय की, कि हँकाई के समय लगात में बैठ कर खा लूंगा किन्तु जूदेव ने एक न मानी और मुझे वहीं बँधान पर बैठ कर भोजन करना पड़ा।

यह है सहिष्णुता की पराकाष्ठा। यह है उनका सतोगुणी रूप।

साधारणतः यदि एक बार किसी को क्रोध आ जाय तो दिन भर मिजाज बिगड़ा रहता है किन्तु ओरछेश के तीनों रूपों का एक ही दिन में तीन घण्टे के भीतर दर्शन करने का मुझे सौभाग्य प्राप्त हुआ।

२२

प्रजा-वत्सल ओरछेश

•

श्री डी० आर० डोंगरे

पिछले ६ वर्ष से मैं बन्दोबस्त का कार्य-सम्पादन कर रहा हूँ, और अपने कुछ व्यक्तिगत अनुभव ही यहाँ दूंगा ।

भारतवर्ष कृषि प्रधान देश है और यहाँ के देशी राज्य विशेषतया कृषि पर ही निर्भर हैं । हमारे राज्य के पूर्व नरेशों ने भी कृषोन्नति की अनेकों सुविधायें तथा सहायतायें प्रदान की थीं, जिनके फलस्वरूप राज्यान्तर्गत कूप, बाड़ी, तथा तड़ागों का जाल बिछा हुआ है । किन्तु भूमि कर की रीति वास्तविक शक्ति के आधार पर न होने तथा गणित सम्बन्धी गणना "मैथेमेटिकल कैलक्युलेशन" की भित्ति पर निर्भर होने से जनता को अधिक उपयोगी तथा राज्य को भी लाभदायक सिद्ध नहींहु ई । अतएव सन् १६३६ से श्रीमान् श्री जू देव महोदय ने मुझे इस कार्य के सम्पादनार्थ आज्ञा प्रदान की ।

जनवरी सन् १९४० में सर्व प्रथम मैंने निवाड़ी तहसील का कार्य अपने हाथ में लिया और निरन्तर छै मास के भ्रमण से मुझे यह अनुभव प्राप्त हुआ कि भूमि कर की विषमता ने प्रजा की आर्थिक स्थिति शोचनीय बना दी है, तथा राज्य को भी भूमि कर वसूल करने में नाना प्रकार की कठिनाइयाँ उपस्थित हो रही हैं । इस राज्यान्तर्गत निवाड़ी तहसील में मेरे कार्य का प्रारम्भ था और नवागन्तुक होने के नाते पग-पग पर त्रुटियों की सम्भावना थी । भूमि कर की अधिकता के कारण कृषकों की दीन अवस्था ने मुझे दुविधा में डाल दिया था ।

राजा और प्रजा का पारस्परिक सम्बन्ध दोनों की कर्त्तव्य-परायणता के आधार पर ही स्थायी हो सकता है । शासन व्यवस्था और सहयोग का भूल आधार न्याय तथा सदाचार ही है, तदनुसार ही सेटिलमैण्ट का सिद्धान्त राजा और प्रजा के हित का सन्तुलन है । इस सिद्धान्त को ले कर सर्व प्रथम माह सितम्बर सन् १९४० में मुझे श्री जू देव के समक्ष उपस्थित होने का सौभाग्य प्राप्त हुआ । उपरोक्त सिद्धान्त के आधार पर तहसील निवाड़ी में ११ प्रतिशत की न्यूनता आई । शासक वर्ग ने इस न्यूनता को सशंक दृष्टि से देखा मैं और भी असमंजस में पड़ गया, किन्तु श्री जू देव के एक वाक्य ने सब भ्रम दूर कर दिया ।

"सेटिलमैण्ट का यह आशय नहीं कि प्रजा पर कर-भार बढ़ाऊँ। मेरी पूर्व घोषणा-अनुसार ब्रिटिश भारत से यहाँ दो पैसा प्रति रुपया कम रक्खो।" श्री जू देव का यह वाक्य उनके आत्म विश्वास, प्रजा-वत्सलता का हृदयग्राही उदाहरण है। इतना ही नहीं, वरन् कृषकों को कोष पटैंती भूमि पर स्थित वृक्षों पर उन्हें पूर्ण अधिकार प्रदान करते हुए तथा प्राचीन काल से प्रगतिमान भिन्न-भिन्न करों, उदाहरणार्थ जजिया, व्याई, झरी इत्यादि से मुक्त कर दिया है।

इसके उपरान्त मैं तहसील बल्देव गढ़, जतारा तथा टीकमगढ़ के वर्तमान तथा प्रस्ताविक भूमि कर सम्बन्धी प्रश्नों को ले कर समय-समय पर श्री ओरछेश की सेवा में उपस्थित हुआ। दुर्भाग्यवश उपरोक्त तहसीलों में भी १२ या १३ प्रतिशत की कमी आई, लेकिन उदार हृदय एवं प्रजावत्सल नरेश को इसे स्वीकार करने में लेश मात्र भी संकोच न हुआ।

राज्य के जागीरदार महाशय भी ओरछेश की उदारता से वंचित न रहे, अधिकांश जागीरदार महाशयों पर टाँका, उवारी की बकाया तथा खासगत के ऋण का भार इतना बढ़ गया था कि उससे छुटकारा पाना कठिन ही नहीं, बल्कि असम्भव था। सैंटिलमेण्ट के कार्य के साथ श्री जू देव ने इनके समस्त ऋणों को माफ कर इनकी जागीरें मुक्त करने की कृपा की और भविष्य हेतु टांका उवारी की पद्धति को मिटा दिया। उनकी उदारता का एक उदाहरण नगर सेठ बालमुकुन्द जी की जागीर का है, जिन्हें एक छोटा सा ग्राम ४०३) की आय का लगा था। दुर्भाग्यवश कुछ समय पश्चात् उस पर उवारी नियत हो गई और जागीर का अंक २६०) का ही रह गया था। बँटवारे के समय जब श्रीमान् की सेवा में यह व्यवस्था प्रकट की गई तो उन्होंने कहा, "नगर सेठ बालमुकुन्द को कोई एक गाँव १०००) का माफी में लगा दिया जावे। आशा है कि हमारा वंश इनसे उऋण हो सकेगा।"

गत छै वर्ष की अवधि में मुझे इनके अतिरिक्त और कई उदाहरण मिले हैं, जिनमें ओरछेन्द्र की प्रजा वत्सलता कूट-कूट कर भरी है। लेख के विस्तार के भय से उन्हें यहाँ अंकित नहीं कर रहा हूँ।

२३

महाराज श्री वीरसिंह जू देव

•

रामगोपाल चतुर्वेदी

आज से लगभग ४२ वर्ष पूर्व मुझे महाराज ओरछा के प्रथम बार दर्शन करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था। टीकमगढ़ में अखिल भारतीय विराट् कवि-सम्मेलन का आयोजन था। मैं भी वहाँ दर्शक की हैसियत से गया था। मेरे मन में राजा-महाराजाओं के प्रति एक अजीब धारणा थी। मैं समझता कि राजा लोग बड़े अभिमानी और निरंकुश होते होंगे, परन्तु दो-चार दिन बाद ही महाराज साहब को निकट से देखने के बाद मेरे विचार बदल गये।

अपने चारों ओर वे सदा प्रसन्नता बिखेरते रहते थे। हँसते थे, और खूब हँसाते थे। इस संसार में जहाँ क्लेश और नाना व्याधियों का अन्धकार छाया हो, वहाँ ऐसे व्यक्ति जो मानव-हृदय की कलियों को खिलाते और प्रसन्नता रूपी प्रकाश प्रदीप्त करते हों, वे वस्तुतः "देव" होते हैं।

महाराज वीरसिंह देव का हिन्दी-प्रेम प्रसिद्ध था। हिन्दी के सबसे बड़े पुरस्कार 'देव-पुरस्कार' की स्थापना उन्होंने की, और 'मधुकर' नामक पाक्षिक पत्र द्वारा बुन्देलखण्ड-जनपद की साहित्यिक और सांस्कृतिक उन्नति में उन्होंने विशेष योग दिया। उन्होंने 'वीरेन्द्र केशव साहित्यिक परिषद्' की भी स्थापना की। कुण्डेश्वर को साहित्यिक और सांस्कृतिक केन्द्र बनाने का उन्होंने विशेष प्रयत्न किया। कुण्डेश्वर के साहित्यिक केन्द्र से जिन अनेक योजनाओं का उन्होंने सूत्रपात किया, उनसे विभिन्न जनपदों को प्रेरणा मिली, और हिन्दी के साथ-साथ अनेक जनपदीय भाषाओं के साहित्य की श्रीवृद्धि का आन्दोलन चल पड़ा। उनका मत था कि हिन्दी की उन्नति के लिए हिन्दी की उप-भाषाओं का विकास आवश्यक है। महाराज हिन्दी के केवल हिमायती और पोषक ही न थे, वरन् वे स्वयं एक अच्छे लेखक भी थे। भाषा पर उनका अधिकार था और विषयानुकूल शैली में लिखने में वे सिद्धहस्त थे। 'विशाल भारत' में सम्भवतः सन् ३२ में, पिण्डारी-ग्लेशियर की यात्रा 'फक्कड़' नाम से उनका एक लेख छपा था। लेख का आरम्भ यों था "विशाल-भारत में वैसे तो अनेक स्थान दर्शनीय हैं, किन्तु हिमालय के प्राकृतिक दृश्य अद्भुत रूप से अद्वितीय हैं। जिन्होंने कभी हिमालय के दर्शन नहीं किये, उनके लिए शिमला, नैनीताल इत्यादि अनेक हिल-स्टेशनों पर जाकर अपनी इस अभिलाषा को पूरी करना सम्भवतः यथेष्ट हो, किन्तु जिन्होंने अनेक बार ये स्थान देखे हैं, उन्हें हिमालय के गर्भ में जाकर, वहाँ के मनोहर

प्राकृतिक दृश्य देखने की अदम्य इच्छा हो आती है। प्रकृति के एकान्त उपासकों को हिमाच्छादित गगनचुम्बित पवित्र शिखर, झर-झर बहते हुए निर्मल झरने और शिलाओं से क्रीड़ा करती हुई पर्वतीय नदियों के कलकल शब्द द्वारा निनादित सघनवन से परिपूर्ण उपत्यकाएँ प्रबल रूप से आकर्षित करती हैं। इसी प्रेरणा के अधीन हो, मैंने भी पिंडारी ग्लेशियर जाने की ठानी।"

'स्वातन्त्र्य-परिचय' नामक अन्य लेख, जो 'वनचर' के नाम से लिखा था, स्कैच लिखने की शैली का एक अच्छा नमूना है।

जनपदीय भाषाओं में जो साहित्यिक एवं सांस्कृतिक निधि बिखरी पड़ी है, उसको एकत्र करने के लिए वे चिन्तित थे। कहानियों, कहान्तों, लोकोक्तियों तथा जनपदीय भाषाओं के बिखरे साहित्य के संकलन के काम को वे आवश्यक समझते थे। हिन्दी में विभिन्न विषयों की पुस्तकों का अभाव उन्हें बहुत खटकता था। वनस्पति-शास्त्र और वन्य-जीवन के बारे में उनका ज्ञान असाधारण था, और वे इन विषयों पर पुस्तकें लिखवाना चाहते थे। उन्होने स्वयं हॉकी के खेल पर एक पुस्तक लिखी थी।

ब्रजभाषा के तो वे अनन्य प्रेमी थे। ब्रजभाषा के बहुत से कवियों की प्रसिद्ध कविताएँ उन्हें याद थीं। उन्होंने स्वयं अपनी लेखनी से ब्रजभाषा की सुन्दर रचनाओं का एक अच्छा संग्रह तैयार किया था। रत्नाकरजी के गुरु स्वर्गीय नवनीत जी की समस्त रचनाओं का वे प्रकाशन करना चाहते थे। अनेक बार उन्होंने इस बारे में मुझे आदेश दिये थे और स्व० नवनीत जी के पुत्र कविवर गोविन्दजी को टीकमगढ़ आने का निमन्त्रण भी दिया था।

उनके शासनकाल में अनेक कवियों को राजकवि होने का गौरव प्राप्त हुआ। इनमें प्रमुख कवियों के नाम ये हैं : श्री ब्रजेशजी, श्री अम्बिकेशजी, श्री रामाधीन खरे, बिहारी कवि, मऊ के नरोत्तम पाण्डे और मौलवी मंजर साहब आदि। ये कवि मूलतः ओरछा राज्य के निवासी न थे। सर्वश्री अम्बिकेशजी, ब्रजेशजी, श्री रामाधीन खरे, तीनों रीवा के और बिहारीजी बिजावर राज्य के थे। नरोत्तम पाण्डे मऊ (यू० पी०) और मंजर साहब टीकमगढ़ के शायर थे। उनके हृदय में सभी भाषाओं के लिए स्थान था।

उन्हें पुस्तक पढ़ने और संग्रह करने का बड़ा शौक था। उनके निजी पुस्तकालय में इतिहास, साहित्य, मूर्तिकला, वास्तुकला, पशु-पक्षी, वनस्पति आदि विभिन्न विषयों के अनेक दुर्लभ ग्रन्थ थे। उसमें अधिकांश पुस्तकें हिन्दी, अँग्रेजी, संस्कृत, उर्दू, डिंगल (राजस्थानी) भाषाओं की थीं। वे इन सभी भाषाओं में समान रूप से रुचि रखते थे।

वे अच्छे वक्ता थे। अपनी बात को प्रभावपूर्ण ढंग से कहते थे। विभिन्न अवसरों पर उनके भाषण होते थे और अक्सर बिना किसी तैयारी के ही उन्हें बोलना पड़ता था। बातचीत करने की कला में बड़े पटु थे। उनके पत्र भी बड़े कलात्मक

होते थे। उनके लिखे कई पत्र अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं। इन पत्रों के प्रकाश में उनका जो स्वरूप अंकित हुआ है, वह अन्यत्र दुर्लभ है। उनका एक पत्र नमूने के रूप में यहाँ उद्धृत किया जाता है।

बैंकुण्ठी,
टीकमगढ़, वी० पी०
२—१२—५३

प्रिय गुपलेश,

नव वर्ष की बधाई का कार्ड और 'साप्ताहिक हिन्दुस्तान' मिले। अनेक धन्यवाद।

आपका लेख भी पढ़ा। उसका पूर्व भाग अक्षरशः सत्य है। यदि वनजीवों का नाश इसी प्रकार जारी रहा, जैसा कि अभी है, तो कुछ ही दिनों में जो जंगल भरे पड़े थे, उनमें एक भी जीव देखने को नहीं मिलेगा। पर बात यह है कि कोरा लेख ही लिखने से काम नहीं चलता। अभी उस दिन मैं कोटा के जंगलों में शिकार खेलने गया था, सो वहाँ का भी यही हाल है। जो आवाज तुमने उठाई है, वह इतनी बुलंद होनी चाहिए कि हमारी सरकार के कान के परदे फट जाएँ। तभी कहीं जाकर काम चलेगा। अभी तो कोरी कमेटियाँ सरिश्ता माफिक बन रही हैं। कान पर जूँ रेंगने का नाम नहीं। देखें, कब क्या होता है?

आंध्र बन रहा है। कर्नाटक ने भी आवाज उठाई है। महा गुजरात और महाराष्ट्र में सुरबुराहट हो रही है। पर वृहत् बुन्देलखंड बनाने का कोई नाम नहीं ले रहा। क्या बात है। तुम्हारे कक्का* क्या सो गये?

कौंसिलर क्या बन गये, कुंभकरण के चचा हो गये? ऐसी कैसी चुप्पी सादें है? मौका है। वे का कत्त हैं, सो लिखिओ।

यहाँ ठंड बिलकुल नहीं है। बादल नित्य प्रति होते हैं। उमड़ते हैं, घुमड़ते हैं, पर बरसते नहीं, जबकि महाउठ की जरूरत है। महाजनो येन गतः स पंथा के अनुसार हमारी सरकार की अनुहार हो रहे हैं।

अपने कक्का से हमारी जै राधे की कहियो।

भवदीय
देव

साहित्य के विभिन्न अंगों का उन्होंने गहरा अध्ययन किया था। लक्षण, रस, छन्द, अलंकार, नायिकाभेद आदि विविध विषयों में उनकी गहरी पैठ थी। सूक्तियों का वे निरन्तर संग्रह करते रहते थे। उनकी जेब में एक छोटी डायरी और पेंसिल बराबर रहती थी। जब किसी मौके पर कोई अच्छी उक्ति कहता था, तो वे उसे तत्काल

---

* श्री बनारसीदास चतुर्वेदी

उससे अपनी डायरी में लिखवा लेते । उनकी डायरी में दो-चार कवित्त लिखने का सौभाग्य मुझे भी मिला था ।

खाने और खिलाने में उन्हें बड़ा आनंद आता था । खिलाने का अधिक चाव था। दावतों में चौबे होने के कारण बहुधा मेरा तो जाना होता ही था । उस समय भी वे बीच-बीच में व्रज भाषा के कवित्तों की कुछ पंक्तियों का भी सुंदर और समयोचित प्रयोग कर देते थे । कभी किसी कवित्त का एक चरण हटाकर उसमें अपना जोड़ देते थे । जैसे—"भरि जाय भव्य भावनान सो बुँदेलखंड, पुआ-पकवानन सों पेट मेरो भरि जाय", उन्हीं की सूझ थी । वे रामायण की चौपाइयों का भी मौके पर बहुत सटीक प्रयोग करते थे । कभी डिंगल भाषा की पक्तियां सुनाते थे । किस्से बहुत से सुनाया करते थे । ये किस्से और लतीफे वे जनपदीय भाषा में, ठेठ बुँदेली में, कभी अँगरेजी में और कभी उर्दू के लहजे के साथ सुनाते थे । वातावरण हँसी से गूँज जाता था । घंटों यही क्रम चलता था ।

वे खुशामदपसन्द न थे । स्पष्टवादिता और सच्ची बात के वे कायल थे । कान के कच्चे न थे । उनसे कोई चुगली नहीं खा सकता था । खरी बात सुनना उन्हें रुचिकर था, खुशामद और लल्लो-चप्पो की बातों से उन्हें घृणा थी । अपनी प्रशंसा सुनना उन्हें अच्छा न लगता था । वे अक्सर अपना मजाक उड़ाया करते थे । अपनी भूलों का जिक्र करते थे । अपने को कभी प्रकाश में लाना नहीं चाहते थे । विज्ञापन से उन्हें घृणा थी । उन्होंने न कभी कीर्ति की इच्छा की, न कभी अपनी बड़ाई चाही । उन्होंने कठोर आदेश दे रखे थे कि मेरी प्रशंसा में एक पंक्ति भी न लिखी जाय । वे सच्चे अर्थों में फक्कड़ थे ।

उनकी कीर्ति हिन्दी-साहित्याकाश को सदैव ज्योतित करती रहेगी ।

२४

स्वर्गीय श्री वीरसिंह जू देव

श्री अमृतलाल चतुर्वेदी

सन १९३१-३२ में भाई बनारसीदासजी ने मुझे ओरछा बुलवाकर मेरा और महाराज साहब का परिचय करवाया था। महाराज का बहुमुखी ज्ञान था। वह स्वयं एक कुशल कलाकार और कला मर्मज्ञ भी थे।

महाराज सादा मिजाज और एकदम मस्त तबियत के पुरुष थे। अभिमान उन्हें छू कर भी नहीं निकाला था। पर स्वाभिमान उनकी रग रग में कूट कूट कर भरा था। हम लोग ३-४ दिन तक ओरछा में बड़े आनन्दपूर्वक रहे।

वैसे तो "खुदा बख्शे, बहुत सी खूबियां भी मरने वालों में" पर मुझे जो सबसे बड़ी ख़ूवी महाराज साहब में जंची वह थी उनकी मातृ-भक्ति। तराजू के एक पलड़े में था राज्य और दूसरे में माताजी से सम्बन्ध विच्छेद। किन्तु हमारे चरित्रनायक ने अपने पितामह महाराज साहब से स्पष्ट कह दिया कि जिस माता की कोख से जन्म लिया है उससे सम्बन्ध विच्छेद कैसा ? और यह कह कर राज को लात मारदी। यही कारण था जिससे श्री वीरसिंह जू देव एक साधारण व्यक्ति की हैसियत से (राज्य पाने के पूर्व) रहे। वह अच्छी तरह जानते थे कि एक साधारण व्यक्ति का जीवन कितना कष्टमय होता है, क्योंकि वह स्वयं भुक्त भोगी थे।

महाराज अचूक निशानेबाज एवं चतुर शिकारी थे। एक दिन संध्या को हम लोग जंगल में घूमने कार में निकले। महाराज स्वयं कार को चला रहे थे। उनके बराबर ठाकुर सज्जनसिंह जी बैठे थे। पिछली ओर डाक्टर नरोत्तम एवं मैं था। लगभग २८ मील चल कर सहसा कार रुकी और महाराज तथा सज्जनसिंह जी अपनी राइफिल लिये हुए नीचे उतरे। सामने एक पहाड़ी पर एक तेंदुआ दीखा। सज्जनसिंह जी के मुख से "हुकुम" शब्द निकला। उधर तेंदुआ महाराज साहब की गोली खाकर कई गज ऊँचा उछला और गिर पड़ा। पास लाकर देखा तो उसके जिगर का एक टुकड़ा निकल पड़ा था। थोड़ा चक्कर खाकर देखा तो जानवर वहीं समीप में मरा पड़ा था, लौटने पर मार्ग में बहुत से चीतल मिले। एक सुन्दर से चीतल के लम्बे सींग देखकर महाराज ने सज्जनसिंह जी से पूछा कि इसके सींग कितने लम्बे हैं। उत्तर मिला ३४ इंच। महाराज ने कहा—देखो सज्जनसिंह मुझे इस सुन्दर

चीतल को मारने के लिये बाध्य न करो और मानलो कि इसके सींग ३६॥ इंच के हैं। लेकिन सज्जनसिंह जी नहीं माने और महाराज ने गोली छोड़ दी। जानवर आवाज करता हुआ तत्काल धराशायी हो गया। वाहरे अन्दाज—पास जाकर सींग नापने पर ठीक ३६॥ इंच के निकले।

महाराज को सुन्दर सुन्दर कवित्त, सवैये, गजलें, किस्से याद थे जिन्हें वह बड़े आनन्द से सुनाते थे। उनको सगीत का भी अच्छा ज्ञान था और स्वयं सुरीले थे। हिन्दी की जो सेवा उनने की और जो साहित्यिक एवं कवियों का आदर किया वह अब केवल कहने सुनने की बात रह गई। कोई महाराज वैसी तब न कर सका तो अब की तो बात ही क्या है! "अब अलि रही गुलाब में अवति कटीली डार"।

महाराज को कुश्ती का भी शौक था और बड़ी-बड़ी सुन्दर पिण्डी वाले सुडौल पहलवान उनके यहाँ रहते थे।

१६३२ की बंसत पंचमी पर मुझे महाराज ने पुनः तार द्वारा बुलाया। जब मैं रात को टीकमगढ़ पहुँचा तो दरबार लगा हुआ था। दरबार के समाप्त होने पर महल की खुली छत पर कुमकुमों की फाग मची। तदुपरांत मजलिस जमी। यहाँ एक विशेष घटना घटी। मैंने महाराज से एक गणिका की ओर संकेत करते हुए कहा आपने इसे क्यों बुला लिया है? महाराज ने फौरन कहा—अच्छन, चौबेजी पूछ रहे हैं कि तुम्हें क्यों बुला लिया है। आओ, अपनी विद्या का चमत्कार दिखाओ। मैंने इतने निर्मल सुन्दर हावभाव अब तक नहीं देखे, महाराज ने फिर मुझसे कहा कि देखी इसकी कला। पर मैंने इसके दूसरे गुण पर ही रीझ कर इसे बुलाया है। इसने अपने एक जागीरदार प्रेमी को उनके आपद काल में एक लाख से अधिक रुपया अपने पास से देकर उनकी इज्जत बचाई है। मैं अच्छन के इस गुण की कद्र करता हूँ।

जब मैं चलने लगा तो महाराज ने मुझे एक लोहे की छड़ी दी। मैंने देखा कि वह बहुत भारी थी तो मैं महाराज से पूँछ बैठा। वह हँसे और बोले 'अमृत भाई' वह छड़ी नहीं है, वह तो हमारे कारीगर की बनाई हुई रायफिल है। फिर खोलकर दिखलाई। मैं सधन्यवाद उसे वापिस कर आया।

महाराज दूसरों के आचार विचार का भी बड़ा आदर सत्कार करते थे। जब मैं ओरछा में था तो मैंने कच्ची रसोई नहीं खाई। महाराज इस बात को न भूले, दूसरी बार जब मैं टीकमगढ़ गया तो राज की ओर से इने गिने लोगों का भोजन था। जिसमें भाई बनारसीदास जी के और मेरे अतिरिक्त सभी राजे महाराजे और अंग्रेज थे। यहाँ तक कि महाराज के भाई लोग भी नहीं थे। भाई बनारसीदासजी के थाल में तो निरामिष भोजन और पीने को लैमन सोडा पर मेरे थाल में सब कुछ मिला जुला भक्षाभक्ष था, और पीने को शराब। मैं बड़ा ठीला था, अर्ध रात्रि का समय था और मुझे कड़ाके की भूख लग रही थी! महाराज मेरी ओर देख देखकर मुस्करा रहे थे, और मैं रहा था कुढ़। अन्त में चाय आई और मैंने उठ-

कर बटलर के हाथ से अन्दर की ओर ही दूध का बर्तन लेकर दूध पीना आरम्भ कर दिया, महाराज ताड़ गए। आकर बोले, भले आदमी झूँठा दूध ही छोड़ दे मैं तो परीक्षा ले रहा था। नौकर से कहा 'राजमाता के चौके से थाल सजाकर ले आओ'। तब मैंने शुद्ध भोजन किए।

सन् ३४ या ३५ में एक बार १० बजे के लगभग देखें तो महाराज मेरे कमरे के नीचे तांगे में बैठे मेरा पता पूछ रहे हैं। मैंने आश्चर्य से कहा, 'हे महाराज।' तुरन्त संकेत किया, मुँह बंद करो, मैं चुपचाप अन्दर कमरे में ले आया। बोले, किसी को खबर न मिले कि मैं आगरे आया हूँ। जल्दी चाय पिलाओ और चलने दो, तुमसे मिलने और फक्कड़पने में चुप-चाप यहाँ चला आया हूँ। यह महाराज के अंतिम दर्शन थे। पत्र व्यवहार तो थोड़ा बहुत रहा किन्तु वह भी १०-१५ वर्ष से बन्द था। भगवान महाराज की आत्मा को शान्ति प्रदान करें यही प्रार्थना है।

२५
मधुर स्मृतियाँ

स्व० नरोत्तम दास चतुर्वेदी

सन् १९३२ की बात है। गर्मी का मौसम था। दोपहर के समय कलकत्ता मेडिकल कालेज के नेत्र-विशेषज्ञता का वर्ग समाप्त होने पर मैं घर आ चुका था और कपड़े बदल कर वाराणसी घोष स्ट्रीट में स्थित दादा बनारसीदासजी के कमरे में उनकी खरेरी चारपाई पर अपनी थकान मिटा रहा था। दादा अलग बैठे हुए कुछ लिख-पढ़ रहे थे कि उसी समय दो भव्य सज्जन, सिर पर साफा बाँधे हुए और अचकन पाजामा पहने हुए कमरे में घुसे और उन्होंने दादा को 'चतुर्वेदी जी' के नाम से सम्बोधन करके हाथ जोड़ते हुए उनके चरण छुए। उनका परिचय कराते हुए दादा ने मुझसे कहा, "नरोत्तम, ये हिज हाइनेस महाराजा टीकमगढ़ श्री वीरसिंह जू देव हैं।" फिर उनके साथ वाले महाशय की ओर इशारा करते हुए कहा, "यह हैं सज्जन सिंह खजूरी, महाराजा साहब के दीवान।" मैंने तत्काल चारपाई से उठकर उनका अभिवादन किया और उनको आदरपूर्वक बैठाया।

उनके साथ दादा का वार्तालाप लगभग आधे घण्टे तक चलता रहा। इसके बाद जब वे लोग जाने को हुए तो उन्होंने दादा से कहा, "आप हमारे यहाँ अवश्य आइए और ओरछा तथा उसके आस-पास के ऐतिहासिक सुन्दर प्राकृतिक स्थानों को देखिए। कुछ दिन वहाँ ठहरिये। आप मुझे अपने पहुँचने की तारीख की सूचना कुछ समय पहले ही दे दीजिये, ताकि मैं आपके लिए सवारी का बन्दोबस्त कर दूं।" इसी के साथ-साथ महाराज ने मुझसे भी दादा के साथ आने को कहा। यह महाराज के हृदय की महानता थी कि पहले से कोई परिचय न होते हुए भी थोड़ी-सी देर की बात-चीत में ही इतना प्रेम मानने लगे कि मुझे आने का निमन्त्रण दे दिया।

सन् १९३३ की गर्मियों में दादा मुझे और श्री अमृतलाल जी वकील को फीरोजाबाद से साथ लेकर सुबह की गाड़ी से चले और झांसी पर गाड़ी बदलकर ओरछा जाने वाली गाड़ी में बैठ गये। ओरछा झाँसी से माणिकपुर लाइन पर पहला स्टेशन है। ओरछा स्टेशन पर गाड़ी के रुकते ही हम लोगों ने जल्दी से अपना सामान उतारा, क्योंकि वहाँ गाड़ी बहुत थोड़ी देर रुकती थी। बिलकुल छोटा-सा स्टेशन, बिलकुल नीचा प्लेटफार्म। चारों ओर पहाड़ी और जंगल। उस गाड़ी से शायद अन्य

कोई यात्री नहीं उतरा। सन्ध्या होने में कुछ ही देर थी। न कोई लेने आया और न कोई यात्री था, जिससे हम कुछ पूछते। अतः स्टेशन मास्टर के कमरे में गये। मालूम हुआ कि ओरछा की बस्ती और किला वहाँ से करीब तीन मील है। उन्होंने यह भी बताया कि रास्ता खोदकर यों ही सड़क बना दी गई है और वह बहुत ही ऊबड़-खाबड़ है और यहाँ कोई सवारी भी नहीं है।

कुछ क्षण के लिए हम लोग चक्कर में थे कि क्या किया जाय। इतने ही में दो कारें उसी ऊबड़-खाबड़ सड़क पर बड़ी तेजी से आईं और स्टेशन के बाहर रुक गईं। हमने देखा कि एक कार से महाराज श्री वीरसिंह देव जू और दूसरी से श्री सज्जन सिंह जी बड़ी शीघ्रता से उतरे और स्टेशन में प्रवेश करके दूर से ही दादा को प्रणाम किया। फिर पास आकर विनम्रता से विलम्ब के लिए क्षमा मांगी। उन्होंने बताया कि बजाय ओरछा पर स्वागत करने के झांसी स्टेशन से ही उतारकर सीधे ओरछा ले जाने की सोचकर वे झाँसी गये, लेकिन स्टेशन पर पहुँचे, तब तक गाड़ी छूट चुकी थी। वहाँ से ओरछा आये।

उनके साथ हम लोग किले में गये। हमारे ठहरने की व्यवस्था किले के एक सुसज्जित कमरे में की गई थी, जिसमें रात को सोते समय हम लोग आते थे और सुबह स्नानादि से निवृत होकर फिर दिन भर महाराजा साहब के साथ किले के ऊपर के भाग में व्यतीत करते थे। उस अवसर पर उन्होंने कई अच्छे कवियों को बुलाया था, जो कि हमारे साथ ही ठहरे थे। ये गणमान्य कवि थे सर्वश्री मैथिलीशरण गुप्त, मुंशी अजमेरी जी, उर्दू के एक मुसलमान कवि, एक हिन्दी के कानपुर के कवि।

एक दिन हम लोगों को शिकार दिखाने का कार्यक्रम बनाया गया। बेतवा नदी पार करके घने जंगल में होकर वृक्षों को काटकर १०-१५ मील लम्बी ऊबड़-खाबड़ सड़क पर, जो कि महाराजा साहब ने शिकार के लिए ही बनवाई थी, हम लोगों की कारें गईं। हमें पहाड़ी पर बने एक ऊँचे मचान पर बिठाया गया। फिर शिकार के लिए हांका कराया गया, परन्तु शेर नहीं मिला। दूसरे बीसियों जानवर भागते हुए निकले जा रहे थे।

अगले दिन शाम को उसी सड़क पर कोई खास शिकार के स्थान को देखने जा रहे थे कि यकायक सज्जनसिंह जी ने, जो कि महाराज की गाड़ी में पीछे की सीट पर बैठे थे, महाराज के कानों में बहुत धीमे से कुछ कहते हुए उँगली से सामने पहाड़ी पर खड़ा हुआ एक शेर दिखाया। पहाड़ी बीच में से कटी हुई थी और शेर एक पर से कूद कर शायद दूसरी ओर जाना चाहता था। मुझे महाराज ने अपने पास की सीट पर ही बिठा लिया था। महाराज साहब बड़ी सावधानी से मोटर के बाहर उतरे और बन्दूक से निशाना साधा। शेर कम-से-कम ढाई सौ गज की दूरी पर था। ज्योंही गोली छूटी कि शेर के पेट में जाकर लगी। शेर बड़े जोर से दहाड़ मारकर दूसरी ओर कूदा और जंगल में से होकर दौड़ा।

महाराज और सज्जनसिंह जी जिधर थे, उधर ही आया। ये दोनों महानुभाव बन्दूकें लिये हुए शेर की खोज में पैदल ही उस पहाड़ी जंगल में बिना आहट के चलने लगे। मैं भी उनके पीछे चलने लगा तो महाराज साहब ने मुझे रोका और कहा, "घायल शेर है। कहीं तुम्हारे ऊपर चोटकर बैठा तो बड़ा बुरा होगा।" परन्तु मैं नहीं माना। आगे पहाड़ी का कुछ हिस्सा एक लम्बा-चौड़ा गड्ढा-सा बन गया था, जिसमें कुछ पेड़ उग आये थे। महाराज साहब और सज्जनसिंह जी दोनों ने ही दूर से छोटे-छोटे पत्थर फेंके कि अगर शेर हो तो वहाँ से उठे और सामने आए। अँधेरा होने लगा था। थोड़ी देर खोज करके वहाँ से सब वापस आ गए। दूसरे दिन बनरखा शेर की लाश गाड़ी में लादकर किले पर लाया। शेर बहुत बड़ा था। मुझे बताया गया कि महाराज साहब का निशाना अचूक होता है।

एक दिन बेतवा में, जहाँ नदी गहरी थी, स्नान करने गए। वहाँ पर महाराज साहब खूब तैरे। मैं भी उनके साथ-साथ तैरा। देखा, तैरने में वह बड़े प्रवीण थे।

प्रातः ज्योंही हम सब स्नानादि से निवृत्त हो जाते थे, महाराज साहब के साथ किले में ऊपर बैठकर सुबह का नाश्ता होता था। दोपहर को महाराज साहब सबको साथ बैठाकर भोजन किया करते थे। ऐसा ही शाम के समय हुआ करता था। सुबह से लेकर रात तक साहित्यिक मनोरंजन, कविता-पाठ, इत्यादि कुछ-न-कुछ होता ही रहता था।

लगभग एक सप्ताह हम लोग वहाँ ठहरे। एक दिन करीब चार बजे हममें से कई लोग महाराजा साहब के कमरे से सटे बरामदे में सो रहे थे अकस्मात महाराज साहब अपने कमरे से उठकर वहाँ आये। सब लोग उठ खड़े हुए। उनमें से कोई सज्जन मुझको जगाने लगे तो महाराज साहब ने बड़े प्रेम से कहा, "भाई, आप उसे क्यों जगाते हैं? सोने दीजिए।"

महाराजा साहब के प्रेम-भरे आग्रह पर बाद में मैंने झाँसी में प्रेक्टिस शुरू कर दी। उसके बाद बसंत पंचमी का उत्सव आने को था, तब महाराजा साहब ने दादा जी को बुलाया और मुझे भी पत्र लिखा। मेले में मैं भी गया। बनारसीदास जी और अमृतलालजी भी गये थे। कई दिनों तक बड़े अच्छे कार्यक्रम हुए।

मुझे झांसी छोड़ने पर मजबूर होना पड़ा क्योंकि मेरे इकलौते बेटे की मृत्यु हो गई। उसके बाद से मुझे महाराज साहब से मिलने का अवसर नहीं मिल सका। इतने बड़े राज्य के महाराजा होते हुए भी उनमें बड़ी सरलता थी। निडरता थी। छोटे-से छोटे आदमी पर भी वह अपनी इच्छा कभी भी नहीं थोपना चाहते थे।

२६
लोक-गीत की विजय

देवेन्द्र सत्यार्थी

जिन महानुभावों की मेरी लोक गीत यात्रा पर गहरी छाप है, उनमें एक नाम है—महाराज वीरसिंह जू देव।

सन् १९३८ की बात है। मुझे टीकमगढ़ जाने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। कलकत्ता से चलते समय 'विशाल भारत' के लेखक के नाते श्री बनारसी दास जी चतुर्वेदी का एक सिफारिशी पत्र मिल गया। टीकमगढ़ में मुझे सपरिवार एक शाही मेहमान की तरह रक्खा गया।

अँग्रेजों का जमाना था वह। मैं स्वयं एक रियासत में जन्मा-पला था, जिसका नाम था पटियाला। लेकिन पटियाला के महाराजा से कभी कोई मेहमान-वाजी प्राप्त नहीं हुई थी। पटियाला की तो सूरते-हाल ही दूसरी थी। बर्मा-यात्रा में किसी सी० आई० डी० वाले ने उल्टी-सीधी रिपोर्ट कर डाली और जब वह कागज हमारे गाँव के थाने में पहुँचा तो कई दिन तक मेरे पिता को दौड़-धूप करके सफाई देनी पड़ी थी कि उनके बेटे का गाँधीजी से व्यक्तिगत परिचय जरूर है, लेकिन वह तो कांग्रेस का सदस्य नहीं। इसलिए उसके खिलाफ सी० आई० डी० का आरोप एकदम गलत हैं। मैंने यह घटना टीकमगढ़ के महाराज को सुनाई तो वह देर तक हँसते रहे।

एक बार गुरुदेव ने मुझसे पूछा, "क्या पटियाला के महाराजा तुम्हारी कोई सहायता करते हैं?"

"बहुत ज्यादा।" मैंने उत्तर दिया।

"मैं भी तो सुनूँ। वे मुस्कराये।"

मैंने उन्हें बताया कि पटियाला के महाराजा ने बस यही मदद दी है कि मुझे अभी तक गाँव जाकर अपने माता-पिता से मिलने से रोका नहीं। टीकमगढ़ में महाराज ने इस पर गम्भीर मुद्रा बना ली। मैं समझा, उनका आतिथ्य अधिक नहीं चलेगा।

लेकिन बात दूसरी थी। महाराज के गुरू थे श्री बनारसीदास चतुर्वेदी। उनकी चिट्ठी में मेरी तारीफ के जो पुल बाँधे गये थे, उनसे कहीं अधिक महाराज को मेरी बातचीत में दिलचस्पी पैदा हो गई थी। महाराज का ध्यान अपनी ओर आकर्षित करते हुए मैंने कहा, "मूकं करोति वाचालम्।"

दरअसल यह बात मैंने डर से कही थी कि मैं कहीं जरूरत से ज्यादा वाचाल तो नहीं हो गया।

"अच्छा, तो आप संस्कृत भी जानते हैं—मूकं करोति वाचालम् ।" महाराज मुस्कराये । उन्होंने यह भी पूछा कि मुझे किसी तरह का कष्ट तो नहीं हुआ । मैंने उन्हें विश्वास दिलाया कि एक लोकगीत-यात्री को इस तरह की ठाठदार शाही मेहमान-वाजी के काबिल कैसे समझा गया, मैं तो इसी पर हैरान हूँ । मैंने उन्हें यह भी वताया कि संस्कृत की कुछ सूक्तियाँ भी मैंने उसी तरह, कंठस्थ कर रखी हैं जिस तरह अनेक लोक गीत जगह-जगह घूम कर लिपिवद्ध किये ।

उनके आदेश पर मैंने उन्हें सर्वश्रेष्ठ बुन्देलखण्डी लोक गीत सुनाया, जिसमें कुछ इस तरह के शब्द थे :

चौंरई नौरपा तोरे दिन कढ़ गये,
घूमा ठाड़ो विनती करे कोई टोरैं फुन्दनियाँ मोर ।

अर्थात, चौंरई और नौरपा का मौसम तो खत्म हो गया ।........'घूमा' नामक साग खड़ा विनती कर रहा है—'काश । कोई मेरे फुन्दने जैसे फूल तोड़े और घर जाकर साग पकाये ।'

"यह लोक गीत सर्वश्रेष्ठ कैसे हुआ ?" महाराज ने पूछा ।

मैंने डरते-डरते कहा, "मुण्डे-मुण्डे मतिर्भिन्नः ।"

महाराज और भी गम्भीर हो गये । फिर बोले, "यह गीत कहाँ मिला ?"

"टीकमगढ़ जेल से ।"

"अच्छा, तो आप जेल भी हो आये, मेरे आदेश के बिना ही ।" मैं घबरा गया ।

"आप तो डर गये ।" महाराज मुस्कराये, "एक लोक गीत-यात्री को तो निर्भय होना चाहिए । मैं तो सिर्फ यह जानना चाहता था कि जेल में कौन ले गया था आपको ?"

"महाराज, आपके जेलर श्री दुर्गाप्रसाद समाधिया ले गये थे । देखिये, आप उनके खिलाफ कोई कार्रवाही मत कीजियेगा ।" मैंने विनयपूर्वक कहा ।

"आप निश्चंत रहिये । उनके खिलाफ कोई कार्रवाही की भी गई तो वह वहुत ज्यादा खतरनाक नहीं होगी ।" महाराज मुस्कराये ।

"तब तो मुझे उनका नाम नहीं लेना चाहिए ।"

"खैर, मैं यह जानना चाहता हूँ कि यह लोक-गीत किसी पुरुष से मिला या नारी से ?"

"नारी से, महाराज ।" मैंने डरते-डरते कहा ।

"क्या नाम था उसका ?" महाराज की आवाज में सख्ती थी । मैं फिर डर गया ।

"महाराज, आप तो उस नारी के खिलाफ भी कदम उठा सकते हैं," मैंने

दबे लहजे में कहा, "फिर उसका नाम बताना कहाँ तक उचित होगा? सत्यं ब्रूयात प्रियं ब्रूयात, मा ब्रूयात सत्यं अप्रियम ....."

"मैं समझ गया।" महाराज ने कहा, "आप लोक-गीत यात्री ही नहीं, संस्कृत-भाषा के भी प्रेमी हैं। यह संस्कृत का प्रेम कहाँ से हाथ लगा?"

"महाराज, मेरा जन्म एक ऐसे परिवार में हुआ, जिस पर आर्य समाज का प्रभाव है।"

"वह तो आपके उपनाम 'सत्यार्थी' से ही जाहिर है। 'सत्यार्थ प्रकाश' तो मैंने भी पढ़ा है, पर मैं सत्यार्थी न बन सका। खैर, छोड़िये यह किस्सा। उस नारी का नाम बताइये।"

"महाराज, समाधिया जी ने मेरे निवेदन करने पर उस नारी का नाम पूछकर बताया था ... .हलकी।"

"उसकी जात?"

"महाराज, वह एक ब्राह्मणी है।"

"किस अपराध में दण्डित है हलकी?"

"महाराज, उसके खिलाफ यही आरोप था कि विधवा होकर उसने एक शिशु को जन्म दिया, जिसकी उसने हत्या करने का प्रयास किया।"

"क्या आप उस पर कहानी लिखेंगे?"

"महाराज, अभी तो आपकी सेवा में यही निवेदन है कि जिसने मुझे सर्वश्रेष्ठ बुन्देलखण्डी लोक-गीत लिखवाया, उसका शेष दण्ड माफ कर दें।"

"देखेंगे।" महाराज ने कड़कदार आवाज में कहा, और मेरे हाथ में एक लिफाफा थमाते हुए कहा, "कुछ पत्र पुण्य मार्ग-व्यय के लिए।"

बाद में श्री बनारसीदासजी के पत्र से पता चला कि महाराज ने हलकी को जेल से रिहा कर दिया।

यह थी लोक-गीत की विजय।

२७

प्रांत निर्माण में महाराजा ओरछा का योग

•

रामगोपाल चतुर्वेदी

"राजा महाराजाओं का युग तो अब समाप्त होने को है। जनता को ही आगे बढ़कर शासन-सूत्र संभालना होगा। इसमें कुछ विलम्ब लग सकता है, परन्तु है यह अश्वयंभावी।"

आज से लगभग २२ वर्ष पूर्व, सन् १९३४ में यह शब्द महाराज, वीरसिंह देव ने, कलकत्ते में 'माडर्न रिव्यू' के सम्पादक स्वर्गीय श्री रामानन्द चटर्जी से भेंट करते समय कहे थे। सच तो यह है कि विंध्य-प्रदेश की साहित्यिक, सांस्कृतिक और राजनीतिक प्रगति में महाराज वीरसिंह देव का जो महत्वपूर्ण योग रहा है, वह देशी राज्यों के इतिहास में स्वर्ण अक्षरों में लिखा जायगा।

महाराज वीरसिंह देव के साहित्यिक और सांस्कृतिक कार्यों का तो कई स्थानों पर उल्लेख किया है, परन्तु राजनीतिक क्षेत्र में उन्होंने विंध्य-प्रदेश की जो सेवा की, इस बारे में बहुत कम लोग जानते हैं।

प्रान्त कैसे बनें ?

नये प्रान्तों की रचना के बारे में उनके विचार स्पष्ट थे। सन् १९४२-४३ में बुन्देलखण्ड सेवा संघ अधिवेशन में, जिसमें विंध्य-प्रदेश, उत्तर-प्रदेश, मध्य-प्रदेश के अनेक जननायक शामिल हुये थे, उन्होंने यह घोषणा की थी :—

"भाषा के आधार पर प्रांतों की रचना ठीक है, परन्तु यदि एक जनपद की जनसंख्या क्षेत्रफल और अर्थसाधन इस योग्य न हों कि वह स्वतन्त्र प्रांत बन सके, तो इसमें हानि नहीं समझता कि वह अपने निकटवर्ती जनपद के साथ मिल कर एक प्रांत बना लें।"

"सामन्तशाही और विशेषकर छोटे राज्यों का समय अब तक खत्म होने को है। शासन प्रणाली का सूत्रपात जनता के बहुमत पर होना चाहिये।"

महाराज वीरसिंह देव ने विंध्य-प्रदेश के राज्यों के एकीकरण का प्रयत्न आज से लगभग २५ वर्ष पूर्व ही शुरू कर दिया था। सन् १९४०-४१ तक उन्होंने बुन्देलखण्ड के लगभग सभी राज्यों के पुलिस और जुडीशियल विभागों का एकीकरण कर दिया था। इसके फलस्वरूप बुन्देलखण्ड की रियासतों के लिए जुडीशियल और पुलिस विभागों

की एक सुगठित व्यवस्था लागू की गयी थी। धीरे-धीरे वह इस दिशा में निरन्तर आगे बढ़ रहे थे, परन्तु राजा महाराजाओं को उनके यह विचार रुचिकर न थे।

सच तो यह है उस गुलामी के उस युग में विंध्य-प्रदेश के प्रांत निर्माण की आवाज बुलन्द करके महाराज वीरसिंह देव ने एक आफत बैठे ठाले मोल ले ली थी। कई राजा उन पर यह आरोप लगाने लगे थे कि महाराज ओरछा समूचे बुन्देलखण्ड को हड़पना चाहते हैं। कुछ राजाओं का यह ख्याल भी था कि महाराज ओरछा राजाओं का अस्तित्व ही मिटाना चाहते हैं। उधर तत्कालीन पोलिटकल एजेन्ट के विचार यह थे कि "महाराजा ओरछा तो राजाओं के अस्तित्व के ही खिलाफ हैं।"

अत: उन्हें अनेक बार राजा महाराजाओं के कड़े विरोध का सामना करना पड़ता था। एक बार तो राजाओं के बृहत सम्मेलन में प्रांत निर्माण के आन्दोलन पर काफी वाद-विवाद हुआ। कुछ राजाओं ने अपने वैधानिक अधिकारों की दुहाई देकर कहा कि हमारे पास ब्रिटिश सरकार के साथ हुई वे सब ट्रीटीज (संधियाँ) और सनदें सुरक्षित हैं और इसके आधार पर हम अपने अस्तित्व को कायम रक्खेंगे।

महाराज वीरसिंह देव ने इसका जनवादी भाषा में जो उत्तर दिया वह यों था:—

उन ट्रीटीज और सनदों का पुलन्दा बनाकर........रख लीजिये।

यहाँ प्रसंगवश तत्कालीन राजाओं की मनोवृत्ति पर प्रकाश डालना भी अनुचित न होगा।

सन् १९४३-४४ में महाराजा वीरसिंह जू देव ने विंध्य के इतिहास की सामग्री एकत्र करने के लिए मुझे विंध्य-प्रदेश के विभिन्न राज्यों में कई बार भेजा था। उस जमाने में इस साहित्यिक काम को सन्देह भी की दृष्टि से देखा जाता था। तब पन्ना, अजयगढ़, विजावर, चरखारी, सरीला, दतिया, छतरपुर, रींवा आदि अनेक राज्यों में मेरा जाना हुआ था। असल बात यह थी कि बुन्देलखण्ड के निर्णय को लेकर राजाओं के मन में अनेक शकाऐं थीं। बड़ी गलत फहमियां थीं। किसी किसी को शक था कि महाराज पूरे बुन्देलखण्ड पर अधिकार जमाना चाहते हैं।

प्रान्त निर्माण उनके जीवन की आकांक्षा थी। सबसे बड़ी साध थी। नये प्रांत का जो चित्र उन्होंने खींचा था, उसने उनके निधन के तीन सप्ताह बाद से साकार रूप धारण कर लिया। मध्य-प्रदेश और विशेषकर विंध्य-भूमि की जनता महाराज वीरसिंह देव का कृतज्ञता पूर्वक स्मरण करेगी। इन पंक्तियों का लेखक तो उनका ऋणी है।

परन्तु सच बात यह थी कि महाराज वीरसिंह देव, बृहत् बुन्देलखण्ड (जो मध्य-प्रदेश के रूप में बना) के प्रांत निर्माण के लिए अपना सर्वस्व तक त्यागने को तैयार थे। उनकी विचारधारा इस दिशा में बहुत वर्षों से काम कर रही थी। वह प्रांत निर्माण की भावना से ओत प्रोत थे। उनके लिखे अनेक पत्रों में यही बात दृष्टिगोचर होती है। सफल प्रचारक की भाँति प्रांत निर्माण की बात कहने का वे कोई मौका चूकते न थे। अनेक अक्षरों में उनका पत्र यहाँ उद्धृत किया जाता है।

कुंडेश्वर,
टीकमगढ़ - सी.पी.
२.१२.५३

प्रिय गुप्तजी,

नव-वर्ष की बधाई का कार्ड और 'साप्ताहिक हिन्दुस्तान' मिले। अनेक धन्यवाद।

आपका लेख भी पढ़ा। उसका पूर्व भाग अक्षरशः सत्य है। यदि वन्यजीवों का नाश इसी प्रकार जारी रहा जैसा कि आशा है तो कुछ ही दिनों में जो जंगल बचे पड़े हैं उनमें एक भी जीव देखने को नहीं मिलेगा। यह बात बड़ी है

कि कोरा लेख ही। लिखने से काम नहीं चलता। अभी इस दिन मैं ओरछा के जंगलों में शिकार खेलने गया था तो वहां का भी यही हाल है। जो आवाज़ तुमने उठाई है वह इतनी बुलंद होना चाहिये कि हमारे दिल्ली के कान के पर्दे फट जाँय। तभी कहीं जाकर काम चलेगा। अभी तो कोरी कार्रवाइयां [illegible] चल रही हैं। काम पर यूं लिखने का नाम नहीं। देखें कब क्या होता है।

आन्ध्र बन रहा है। [illegible]

न भी आकाश उदास है।
यहां गुजरात और महाराष्ट्र में
छुटपुट वर्षा हो रही है। पर बुन्देल-
खण्ड बनाने का कोई नाम नहीं
ले रहे। ऐसा बात है। तुम्हारे
कृष्णा क्या हो गये? Councillor
क्या बन गये कुम्भकर्ण से बदतर
हो गये। ऐसी कौन चुप्पी साधी।
सोचा है। वे का कल हो सकेगा
यहां ठंड बिल्कुल नहीं है।
बादल जैसे घिरे होते हैं, उमड़ते
हैं, घुमड़ते हैं पर बरसते नहीं पाय

२८

हिन्दी प्रेमी ओरछेश

(देव पुरस्कार के जनक)

•

हरी विष्णु अवस्थी

बुन्देल बसुन्धरा की प्राकृतिक सुषमा, सुरम्य वनस्थली, नैसर्गिक शांतिपूर्ण वातावरण साहित्य-साधकों को युगों-युगों से साहित्य साधना हेतु आमंत्रित करता रहा है।

इस मिट्टी में जन्मे बुन्देला शासकों का कलम और करवाल पर समान अधिकार रहा है। फलस्वरूप यह भूमि तुलसी एवं आचार्य केशव जैसे साहित्य के अद्वितीय नक्षत्रों को जन्म देकर उस क्षेत्र में प्रकाश स्तम्भ का कार्य करती है। बुन्देल-केसरी महाराज छत्रसाल ने स्वयं साहित्य सृजन कर तथा कवि की पालकी में कंधा लगाकर साहित्य-सेवक का अनुपम उदाहरण प्रस्तुत किया था। ऐसा उदाहरण इतिहास में मिलना असंभव है।

बुन्देल-भूमि की इस साहित्यिक परम्परा को अक्षुण्ण बनाये रखने का गौरव ओरछेश वीरसिंह जू देव को ही है, जिनकी साहित्यिक-सेवाओं को कभी विस्मृत नहीं किया जा सकता। बुन्देल खण्ड की यह भूमि वीरसिंह जू देव की इस सेवा के लिए चिर ऋणी रहेगी।

२ मार्च सन् १९३० को ओरछा राज्य के सिंहासन पर महाराज वीरसिंह जू देव का राज्याभिषेक हुआ था। सिंहासनारूढ़ होते ही उर्दू के स्थान पर हिन्दी को राज-भाषा का स्थान प्रदान करने की घोषणा से श्री वीरसिंह जू देव की हिन्दी-सेवा का शुभारम्भ हुआ। इसके पश्चात १५ अप्रैल सन् १९३० को 'श्री वीरेन्द्र केशव साहित्य परिषद' की स्थापना टीकमगढ़ नगर में हुई तथा 'देवेन्द्र साहित्य विद्यालय' भी नगर में राज्य की ओर से स्थापित किया गया। 'सुधा पुस्तकालय' एवं वाचनालय खोले गये।

नवम्बर १९३२ से स्थानीय सवाई महेन्द्र हाईस्कूल की ओर के 'वीर-बुन्देल' नामक मासिक पत्रिका का प्रकाशन आरम्भ हुआ।

सन् १९३५ का वर्ष तो हिन्दी साहित्य-संसार के इतिहास में अविस्मरणीय एवं अमर रहेगा, जब ओरछेश श्री वीरसिंह जू देव ने 'देव पुरस्कार' की घोषणा 'श्री वीरेन्द्र केशव साहित्य परिषद्' के वार्षिक अधिवेशन के अवसर पर की थी।

महाराज ने कहा था—

"अपनी भाषा की सेवा करना हम सब का कर्तव्य है। हमारी भाषा ही हमारे भावों और संस्कृति की धात्री है। इसी उद्देश्य की किंचित पूर्ति के लिए आचार्य द्विवेदी जी (पं० महावीर प्रसाद जी) के अभिनन्दन के अवसर पर काशी में मैंने कुछ पत्र-पुष्प राज्य की ओर से वार्षिक रूप में भेंट करने का निश्चय किया था और यह भी निवेदन किया था कि उसके नियम इस बसन्तोत्सव पर प्रकाशित किये जायेंगे। तदनुसार आज मैं आप लोगों के सम्मुख उन्हें उपस्थित करता हूँ।"

'श्री 'देव पुरस्कार' प्राप्त करने का सर्वप्रथम गौरव श्री दुलारे लाल-जी भागर्व लखनऊ को उनकी कृति 'दुलारे दोहावली' पर प्राप्त हुआ था।

इसके पश्चात् अनेकों साहित्यकारों डा० रामकुमार वर्मा, श्री श्याम नारायण पाण्डेय, डा० गोपाल शरण सिंह एवं यशपाल जी, श्री माखन लाल चतुर्वेदी प्रभृति को इस पुरस्कार से सम्मानित होने का सुयोग प्राप्त हुआ।

पुरस्कार की इस निधि से हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयाग के माध्यम से हिन्दी के लब्धप्रतिष्ठ कवियों कवियित्रियों की कविताओं का प्रकाशन 'आधुनिक कवि' नामक पुस्तकमाला के रूप में हुआ। इसमें महाकवि निराला, पन्त एवं महादेवी के नाम उल्लेखनीय हैं। श्री रायकृष्ण दास जी के कुछ ग्रन्थों का प्रकाशन भी इस निधि से सम्पन्न हुआ।

कुछ कारणों से 'देव पुरस्कार' की अक्षुण्णता में विराम आया, किन्तु शीघ्र ही विन्ध्य-प्रदेश का गठन होने पर यह पुरस्कार विन्ध्य-प्रदेश शासन द्वारा दिया जाने लगा। मध्य प्रदेश के निर्माण के साथ अब यह 'देव पुरस्कार' मध्य प्रदेश शासन साहित्य परिषद् भोपाल की ओर से दिया जाने लगा है, किन्तु इसका ओरछेश स्वर्गीय वीरसिंह जू देव द्वारा प्रदान किया गया स्वरूप समय के फेर के साथ परिवर्तित हो गया है। अब इसे साहित्य की प्रत्येक विधा पर प्रदान किया जाता है। पुरस्कार की राशि में भी वृद्धि हो गई है। 'श्री वीरसिंह देव पुरस्कार' अब अपने संक्षिप्त नाम "देव पुरस्कार" में सीमित हो गया है।

खेद है कि आज कुछ 'देव पुरस्कार' प्राप्तकर्ता भी न तो इसका पूरा नाम 'श्री वीरसिंह जू देव पुरस्कार' ही मानते हैं, और न पुरस्कार के जनक ओरछेश स्व० वीरसिंह जू देव को ही।

२९
ओरछेश के तथा उनके नाम कुछ पत्र

बनारसीदास चतुर्वेदी का पत्र

१२०-२ अपर सरकूलर रोड,
कलकत्ता
१०-३-३१

प्रिय महाराज वीरसिंह जी,

प्रणाम। आपका २ ता० का कृपा पत्र मिला। अनेक धन्यवाद। आपकी पहली चिट्ठी शायद डाक की गड़बड़ी से नहीं मिली। हाँ, उसके पूर्व के आपके तीन पत्र मिल गये थे।

आपने लिखा है "मेरे लिए जिस सेवा का आदेश आपने किया था वह मुझे पूर्णतया स्मरण है। जितना शीघ्र हो सकेगा मैं प्रयत्न करूँगा" आपके उस उदारतापूर्ण विचार के लिये मैं कृतज्ञ हूँ। आपको पत्र लिखने के बाद मैंने इस प्रश्न पर पुनर्विचार किया और मैं इस परिणाम पर पहुँचा हूँ कि आर्थिक सहायता के लिये मेरा आप से अनुरोध करना उचित नहीं था। इसके तीन कारण हैं :—

पहला—यद्यपि मुझे आपके शिक्षक होने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था पर उसके लिये मुझे वेतन मिलता था और मेरा कोई अधिकार नहीं कि मैं आप पर दबाव डालूं।

दूसरा—आप पर अपने राज्य के निर्धन छात्रों का सर्व प्रथम अधिकार है क्योंकि उनकी भलाई करना ही आपका सर्वोत्तम कर्तव्य है। इसलिये उत्तमतर यही होगा कि आप जो कुछ मुझे देना चाहें वह उन्हीं को अर्पित कर दें, क्योंकि उनकी आवश्यकताएँ मेरी ज़रूरतों से कहीं अधिक महत्व रखती हैं।

तीसरा—एक महत्वपूर्ण बात और भी है, जिसे आपके सम्मुख स्वीकार न करना विश्वासघात होगा। देशी राज्यों की वर्तमान निरंकुश शासन प्रणाली के मैं सर्वथा विरुद्ध हूँ और राज्यों की प्रजा के पक्ष में जो लोग आन्दोलन करते रहते हैं—उनसे मेरी घनिष्ठ मित्रता है और उनके कार्य से पूर्ण सहानुभूति। अपने स्वतन्त्र विचारों को आपसे छिपाना अत्यन्त अनुचित होगा। मैं इस बात को अधिक अच्छा

समझता हूँ कि आप मुझे कुछ भी सहायता न देकर एक ईमानदार व्यक्ति समझते रहें बजाय इसके कि आप मुझको संकोचवश सहायता दें।

अवकाश मिलने पर कभी-कभी चिट्ठी भेजता रहूँगा। मेरी चिट्ठियों को आप पढ़ लें, इसी को मैं बड़ी भारी सहायता समझूंगा।

विनीत,

पुनश्च :— **बनारसीदास चतुर्वेदी**

मेरे छोटे भाई ने कल फीरोजाबाद से तार दिया है "Mother expired peacefully early morning." पत्नी की मृत्यु गत २९ सितम्बर को हो चुकी थी और अब ९ मार्च को माता भी चल बसीं। ईश्वरेच्छा।

कृपया भविष्य में चिट्ठी 'रजिस्टर्ड' भेजिए।

———

श्री ओरछेश का उत्तर

सवाई महेन्द्र महाराजा
वीरसिंह
ओरछा

देहली
२२-३-३१

प्रिय चतुर्वेदी जी। नमस्ते।

आपका पत्र मिला। धन्यवाद। आपने जो मेरी सेवा के विरुद्ध विचार किया और उसके जो तीन कारण बताये वे मेरी अल्प बुद्धि के अनुसार निर्मूल प्रमाणित हुए। क्रमानुसार उनके कारण भी हैं :—

पहला—आपने लिक्खा है कि मेरी निर्धन प्रजा का राज्य द्रव्य पर सर्वप्रथम अधिकार है, सो अक्षरशः सत्य है। इसमें तनिक भी सन्देह नहीं। किन्तु यह लिखते समय आप एक बात भूल गये कि मेरी सेवा के बदले जो द्रव्य मुझे राज्य से प्राप्त होता है, उस पर केवल मेरा ही अधिकार है। उसे मेरे ऊपर व्यय न करके मैं चाहे जिसे दे सकता हूँ। मेरी समझ में इस समय आपकी आवश्यकताएँ मेरी जरूरतों से कहीं अधिक हैं अतः मेरी सेवा को आप अमान्य नहीं कर सकते।

दूसरा—आपको मेरे शिक्षक होने के लिये वेतन मिलता था यह ठीक है। वह मुझे पढ़ाने के लिए और आपके चरणों में जो मेरी श्रद्धा और भक्ति थी उसके लिए आपको क्या मिलता था? भला बताइये तो? उसी भक्ति से प्रेरित हो कर यदि यह तुच्छ भेंट सेवा में अर्पण करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है तो ऐसे अलभ्य अवसर को क्यों हाथ से जाने दूं?

तीसरा—आपने जो लिखा कि "देशी राज्यों की वर्तमान निरंकुश शासन प्रणाली के मैं सर्वथा विरुद्ध हूँ"; सो तो हमारा सारा संसार ही विरुद्ध है और मैं उससे बाहिर नहीं। और आपने जो मित्रता की लिखी सो आप किसी से मित्रता करे रहिये, मेरे पूज्य तो मिटे नहीं जाते, अतः आपका तीसरा कारण यों निर्मूल प्रमाणित हुआ।

मैंने भी अपने हृदय के भाव स्पष्ट कर दिये हैं और मेरी समझ में आपको मेरी सेवा स्वीकार करनी ही होगी, अतः कृपया आना-कानी न करें।

पूज्य माता जी का स्वर्गवास सुनकर बड़ा दुःख हुआ। भगवान् उनकी आत्मा को शान्ति दे। ईश्वरेच्छा बलीयसी। और क्या लिखूं!

अवकाश मिलने पर आप मुझे याद करते रहेंगे, यह जान कर बड़ा हर्ष हुआ।

आज्ञानुसार इसे रजिस्टर्ड भेज रहा हूँ। शेष सब कुशल है। आशा है आप सकुशल होंगे।

आपका कृपाभिलाषी,

वीरसिंह देव

पु० नि०
मैं आज घर जा रहा हूँ अतः वहीं
के पते से पत्र भेजें।

———

बनारसीदास चतुर्वेदी का पत्र

[नीचे के दो पत्रों में एक मेरा है, दूसरा उसका उत्तर स्व० महाराजा साहब वीरसिंह जू देव ओरछेश का। मेरा पत्र वस्तुतः धृष्टता-पूर्ण था तथा युक्ति-विहीन भी और वह क्रोध के आवेश में लिखा गया था। दरअसल, उस क्रोध का कोई कारण भी न था। यदि किसी नासमझ व्यक्ति ने मुझ पर आक्षेप किया था तो उससे महाराजा साहब पर नाराज होने की तो कोई तुक भी नहीं थी। श्रीमान ओरछेश का उत्तर कितना विनम्र और सहृदयतापूर्ण है! अंग्रेजी में लिखे गए उस अशिष्ट पत्र का जवाब श्रीमान महाराजा साहब ने मधुर बुंदेलखण्डी में देकर मुझे लज्जित कर दिया था। ये दोनों पत्र ४५ वर्ष पुराने हैं मैं लज्जित हूँ।—बनारसी दास चतुर्वेदी]

PERSONAL

120-2, Upper Circular Road,
Calcutta.
5th April, 1933.

My dear Bir Singhji

I have just been reading a book of quotations and the following has attracted me considerably :—

"Paying of debts is, next to the Grace of God, the best means of delivering you from a thousand temptations to vanity and sin. Pay your debts, and you will not have wherewithal to buy costly toys or precious pleasures—Pay your debts, and you will not have what to loss to a gamester—Pay your debts, and you will of necessity abstain from many indulgences that war against the spirit and bring you into captivity to sin, and cannot fail to end in your utter destruction, both of soul and body."

You know what a great struggle I have had to make against the baser nature of myself.

Now I have to ask you a question as a friend and comrade. In what manner would you like me to pay your debt of Rs. two thousand ? I consider it a debt that I must pay, though it may take the whole of my life to do so.

Shall I pay it to the केशव साहित्य परिषद ? That will suit me better.

You cannot imagine how very much humiliated I felt when at the instigation of your friend Dularelalji the '**Chitrapat**' wrote more than once that I have been a पेशेवर भिखमंगा and that I took Rs. two thousand from you.

I thought that I could pay your debt by serving the poor and indeed I went on pilgrimage to the Leper Asylum at Purulia after getting that sum and wrote an article about that Leper Colony. And you will be happy to note that article gave the Leper Ashram a sum of Rs. 1125/—(Eleven hundred twenty five.)

But now I feel that I must pay the debt direct to any organizations in your state, that you may suggest and केशव साहित्य परिषद seems to be the most deserving of all. It is only in this manner that I can rise above the humiliation. I believe that I can pay Rs. One hundred annually to the Parishad and thus I can clear the debt within twenty years.

If you approve of this plan it will lift a heavy burden off my heart. **Nothing will give me greater joy than a reply from you in the affirmative.**

You know, Birsinghji, that I have never been a भिखमंगा and though there are two or three people who have helped me financially, they know that I have not taken the money as a sycophant or flatterer. You yourself know that you have always received from me the frankest possible criticism. It was myself who vehemently opposed your election to the President-ship of Hindi Sahitya Sammelan. Again, I have more than once criticised you for your waste of money in dancing parties. And pray, what is the use of a friend, who cannot warn you against the dangers ?

Maharaj Sahib, you can easily get a thousand flatterers on a hundred Rupees p. m and they will lead you to utter destruction. No, I will not be one of that tribe.

You have been kind enough to follow my instructions in literary matters and I have been your साहित्य मंत्री all these years. Dismiss me from this honorary post the moment you are convinced that I am growing selfish.

But if you believe that I will not betray you, nor shall I give you any wrong advice, then retain me as your honorary साहित्य मन्त्री.

Please let me know where I stand in my relation to you, and though I value your friendship, I value my manhood much more.

I know you are a lover of freedom and फक्कड़पन and as a फक्कड़, as an equal, (and all फक्कड़'s are equal) I write to you this letter in the hope that you will not misunderstand me.

Your sincere friend and Literary adviser.

(*Banarsi Das Chaturvedi*)

श्री ओरछेश का उत्तर

टीकमगढ़ सी० आई०
१०-७-३३

प्रिय चौबे जू० पाँय लागन,

आज मैं अपने कागदन खों ठीक से लगा रओ तो के अचानक मोय आपको ५ अप्रैल को पत्र मिलो, तब होस भयो के राम, राम, इतने दिना हो गय जा पाती विना जवाब के डरी रई। भौत दिनन की बात है आपउ खौं ऊ पाती की खबर बिसर गइ हूहै सो कलम बार जवाब लिखत हों।

सबसे पैलां तो मोय माफी दइ जाय के आज लों ऊ पाती को जवाब न दे पाऔ।

सबसे पैलां तो आपने एक अंग्रेजी की कनाउत लिख भेजी है के ऋण चुकावो मनुष्य को सबसे बड़ौ कर्तव्य है जो के मानी भइ बात है।

दूसरां आपने मौसे पूंछी है के तुमइ बताओ के तुमारो करजा हम कैसे चुकायें और जो इसारो करो है कि केसव साहित्य परिषद् खों सौ रुपपैया महिना वार दे कें ई तरै से करजा चुकतो कर दे हैं। सो ई में संदेह नैयां के ई तरो से करजा को करजा चुकतो हो जै और एक साहित्य संगठन की सेवाउ होत जै। बात तो अपुन ने निचाट कइ पै आप सें मोरी राइ नइ मिलत। मौय जौ मंजूर नैयां। काय से के पैली बात तो जा है के जिये अपुन करजा मानत हो उये मैं गुर दच्छना मानत हौं। महाराज जनम करम में तो जो मौंका मिलो और फिर अपुन जा टाइ लगोय के ऊको लाओ मैं ना ले पाँऊ और फिर मौय से पूंछत हो। ऐसी अनहोनी जिन करो, मोरी जेइ विनती है। जो मेरी विनती पै ध्यान न दयो जाय और आपके मन में जेइ भर रेइ होय के आंहा करजा चुकानेइ है तो जो आप समय-समय पै लेख लिखके दीनन की सेवा करत रात और जो साहित्य सेवा कर रय, ओय से मेरो करजा पाइ-पाइ के चुक जै। मौसे पूंछत तो। ई के सिवा और कौनऊ तरकीब से मोरो करजा नाइ चुक सकत।

दुलारे लाल होंय चाय के कोउ होय और वे चाय जो लिखावें पै ईसै होत का है? जनता की आँखन में धूर डारवो कछु हांसी खेल नैयां। जो तो संसार है, की की कौ मौ पकर लेवी, और फिर बात जा है के काउ के कय का वुरओ मानवी, कीचड़ में पथरा फेंके से अपनौउ आंग विगरत।

जा मानी के मौय एक से हजार ठकुर सुहाती कैवे वारे मिल सकत पै मैं खुद इनसे दूर रात। मोय ठाकुर सुहाती तनकइ नेइ सुहात। अपुन खौ में ऐइसे इतनो मानत के अपुन भूलइ के कभइ ठाकुर सुहाती नेइ कत।

अपुन ने पूंछी है के हमारो-तुमारो का रिस्ता है। भला जेइ का कछु पूंछवे की बात है, सेव्य सेवक को का रिस्ता होत है।

अपुन ने जो होकी की पोथी देख लइ होय तो कृपा करके भेज देवी। काय से के भौत दिना हो गय और जो ऊकै सम्बन्ध में जानत हैं वे वर हमेश मौसे पूँछत रात के कमो जू कवै वा होकी की पुस्तक छप जै। उन सौं का कै दंउ एहसे में जल्दी मचांय। जरूर जल्दी से जल्दी भेज देवी।

और सब कुसल है, खुसी खबर की पाती भेजत रैवी।

विनयान्वित
वीरसिंह देव

पु० नि०

भौत दिना पैलां आपने जो पत्र मोखों भेजे ते उनकी प्रतिलिपि मौसे माँगी ती सो तैयार तो मैंने ओय बखत करा लंइ ती पै भेजवो भूल गओ तो, अवैं तो वे ऊसंइ की ऊसंइ घरी रेइ सो ई पत्र के संगे भिजवाउत हों, कृपा करके पोंच लिखवी।

वीरसिंह देव

[स्वर्गीय वीरसिंह जू देव ने मेरे नाम अनेक पत्र भेजे थे। इन पत्रों में महाराज वीरसिंह के व्यक्तित्व की जो मधुर झांकी मिलती है, वह अन्यत्र दुर्लभ है। इन पत्रों में स्वाभाविकता है, प्रवाह है और है अवर्णनीय विनम्रता। पत्रों के कुछ अंश यहाँ उद्धृत किये जाते हैं।]

बनारसीदास चतुर्वेदी के नाम

बल्देवगढ़
२६-१२-३३

"मैं आजकल यहाँ पर अपनी ऐनुअल एक्समस शूट के लिए पड़ा हुआ हूँ। यह स्थान हमारी पाँच तहसीलों में से एक है। बहुत ही सुन्दर स्थान है। दर्शनीय है। ग्वाल सागर नाम का प्रशस्त और सुन्दर तालाब है। इसी के बन्द पर हमारे डेरे लगे हुये हैं। तालाब के दो ओर सघन वन हैं और तट पर दो-तीन छोटे-छोटे गाँव बसे हुए हैं। तीसरी ओर बिलकुल पानी से लगी हुई पर्वत श्रेणी है। बन्द के छोर से २०० गज की लम्बाई तक इस पर्वत की ठांडी पोठ चली गई है। इसी पोंठ के सहारे मेरा डेरा लगा हुआ है। अरुणोदय की गुलाबी कोमल किरणें जल तरंगों से अठ-

खेलियाँ करती हुई क्या कहूँ कितनी भली मालूम होती हैं, "गिरा अनयन नयन बिन बानी।" किन्तु कुछ देर बाद प्रभाकर अपनी प्रकाण्ड प्रतिभा से प्रशस्त पृथ्वी को प्रकाशित करते हुए प्रकट होते हैं। उनकी जाज्वल्यमान किरणें भी तरंगों से अठ-खेलियाँ करती हुई सुन्दर मालूम होती हैं, पर प्रतिभापूर्ण सौन्दर्य से। उनमें वह कोमल सौन्दर्य कहाँ? इधर आपको पत्र लिख रहा हूँ और उधर इसी बात को लेकर हृदय में अनेक प्रकार के भाव उठ रहे हैं। कह नहीं सकता कि मेरे इस वर्णन को पढ़कर आपके हृदय में भी कोई भाव उठेंगे या नहीं। सम्भव है ट्रिनीडाडी मित्र का किसी रूप में स्मरण हो आवे!

× × × ×

टीकमगढ़
१४-७-३३

"आपने टीकमगढ़ छोड़ जाने की जो शुभ सलाह दी तदर्थ पुनः धन्यवाद। किन्तु सखेद सविनय निवेदन है कि मैं ऐसा करने में असमर्थ हूँ। इस समय प्रजा को मेरी आवश्यकता है। यह तो मैं जानता हूँ कि न तो मैं उनकी दवा कर सकता हूँ और न उनकी कोई एक्टिव सरविस ही करता हूँ और जो प्रबन्ध रोग दूर करने के लिए अभी हो रहा है, उसमें मेरे चले जाने से न किसी प्रकार त्रुटि ही आ सकती है। तब भी मेरे रहने से प्रजा को बड़ा भारी मोरल सपोर्ट है। अतः ऐसे सांकरे में मेरा कर्त्तव्य मुझे यही बताता है कि मैं यहीं जमा रहूँ "डगममर्हि डगहिं हिन्दू तुरक नहीं पहार हुल्कहि डगहिं।" आशा है, आप मेरी असमर्थता को क्षमा करेंगे।

"रहने दीजिए—आप वहीं अच्छे हैं। यहाँ होते तो न जाने क्या करते। हम लोगों को एक फिक्र और आपकी लग जाती। आपको बड़े मौके पर बवासीर उखड़ी। बुजुर्ग लोग ठीक ही कह गये हैं कि ईश्वर जो करता है वह सब अच्छे के लिए ही करता है।"

———

बनारसी दास चतुर्वेदी के नाम

[जुतशी साहब का]

Tikamgarh
C. I.
7.12.33

My dear Chaturvedi ji,

You will be glad to know that we are trying our best to make Maharaja Sahib Orchha, the President of the Hindi Sahitya Sammelan this time. Naturally we shall ask your help in this affair. Some

body has informed us that you too are trying for the Presidentship, but I am sure you would withdraw yourself in favour of our His Highness. I think it is too much to ask you to do so at this juncture still I think I have got a right to ask you for it. I hope I have made myself clear and you would appreciate my spirit.

With bes t wishes.

Your Sincerely,
M. N. Zutshi
Private Secretary

———

[मेरा उत्तर]
श्री एम० एन० जुत्शी के नाम

Dear Mr. Zutshi,

Many thanks for your letter of 7th December. I hasten to tell you that the information, that has been given to you that I am trying for the Presidentship of the Hindi Sahitya Sammelan is absolutely without any foundation. Not only that, but I can assure you and other friends that I will never try for it. In fact, I have made up my mind not to attend any meeting of the Hindi Sahitya Sammelan for some years to come. I wish to devote myself to some solid literary work in a secluded place like Kundeshwar.

In spite of my high regards for His Highness, I am sorry I cannot support his election this year. It is my honest conviction that there are more deserving candidates, e. g. Ram Chandra Shukla, Professor, Hindu University and Maharaja Sahib should withdraw his name.

I hope you will appreciate my point of view.

Your Sinicerely
Banarsi Das Chaturvedi

———

श्री मैथिलीशरण गुप्त का तार

O QE 21 29.

Banarsidasji 120/2 Upper Circular Road, Calcutta.

Jainendra ji here has seen Tondon ji Allahabad circumstances demand Tikamgarh accepting Presidentship Sammelan we proceeding Tikamgarh wire Maharaj to consent reply immediately.

Maithlisaran

श्री ओरछेश का वक्तव्य

झांसी से निकलने वाले साप्ताहिक पत्र "हिन्द राजस्थान" में "सम्मेलन का सभापति कौन हो" शीर्षक लेख बांचकर मुझे वड़ा आश्चर्य हुआ। इसलिए कि प्रस्तावित नामों में मेरा भी नाम है। मैं सभापति पद के उपयुक्त हो सकता हूँ, लिखकर जो मेरी अवांछनीय प्रशंसा की है उसके लिए मैं "हिन्द राजस्थान" को धन्यवाद देता हूँ। वास्तविक बात तो यह कि मैं उस महान् पद के सर्वथा अनुपयुक्त हूँ। अत: मैं उसकी इच्छा नहीं करता और न कभी की है। हिन्दी साहित्य संसार में कई ऐसे विद्वान और साहित्यिक सेवी उपस्थित हैं, जो कि मुझसे कई गुना सम्मेलन के सभापति पद को सुशोभित करने को उपयुक्त और योग्य हैं। श्रीयुत मैथिलीशरण जी की सिफारिश करके "हिन्द राजस्थान" ने सर्वथा न्याय ही किया है। मैं उनसे पूर्णरूपेण सहमत हूँ और उनकी इस युक्ति-युक्त सूझ पर उन्हें बधाई देता हूँ। श्रीयुत मैथिलीशरण जी की साहित्य-सेवा हिन्दी संसार से छिपी नहीं। मातृ भाषा की नि:स्वार्थ सेवा करके उन्होंने अपना नाम ही अमर कर लिया हो, सो नहीं, किन्तु हिन्दी-हिन्दू-हिन्दुस्तान का जो उपकार किया है, वह अकथनीय है। उन्हें अखिल भारतीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन के सभापति पद पर आसीन देखकर जितना अधिक हर्ष मुझे होगा, उतना शायद ही किसी को हो, क्योंकि वे बुंदेलखण्ड के गौरव हैं और मैं बुंदेलखण्डी हूँ।

ओरछेश

———

बनारसीदास चतुर्वेदी के नाम

ओरछा
१६-१२-३३

पूज्य गुरुवर, सादर नमस्ते,

आपका कृपा पत्र ता० ६ का मिला, अनेक धन्यवाद, आपका पत्र आने से पहिले एक पत्र सेवा में प्रेषित कर चुका हूँ, आशा है मिला होगा।

मैं अपने आपको साहित्य सम्मेलन का सभापति होने के सर्वथा अयोग्य समझता हूँ और न मैं सभापति बनना ही चाहता हूँ। आपने जो मेरे सभापति होने के विरोध में लिखा है, उसी के लिए मैंने अपने पहिले पत्र में आपको धन्यवाद दिया है। विश्वास मानिये कि यह धन्यवाद दिखावटी नहीं, प्रत्युत हार्दिक है। आपने मेरे विरुद्ध लेख छाप कर मेरी हानि नहीं की, प्रत्युत उपकार ही किया है, और फिर टन्डनजी ने जो आपसे कहा कि मैंने हिन्दी साहित्य के लिये अभी किया ही क्या है सो अक्षरशः सत्य है। वास्तव में मैंने किया ही क्या है ? और उन्होंने जो मेरे चरित्र पर आक्षेप किया और

उसके लिये आपने मेरा पक्ष लेकर उनसे बात की उसके लिये धन्यवाद। पर घटना को सुन कर मुझे दुःख बहुत हुआ। आपको वृथा ही कष्ट करना पड़ा। यदि टन्डनजी अपना कहना करेंगे, यानी मेरे सभापति होने का विरोध करेंगे, तो मेरा उपकार ही करेंगे।

आपकी आज्ञानुसार मैं आज ही प्रधान मन्त्री हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयाग को पत्र लिखे देता हूँ। आपने तो मुझे वह तरकीब बताई कि "ऊँगत ती और बिछा पाई।"

हाँ, मैंने अपने पहिले पत्र के साथ अपनी पिंडारी ग्लेश्यिर की यात्रा का वर्णन लिख भेजा है। यदि उचित समझें तो 'विशाल भारत' में छाप दीजियेगा।

Hang it all, I don't want, never wanted and never will want to become President of Hindi Sahitya Sammelan. You simply voice my feelings that I don't want to come in the lime-light. I hate lime-light like poison. I can't help myself. I am afraid I am made like that and what's more I am satisfied with my lot..................

कुन्डेश्वर जैसे सुन्दर स्थान पर पाँच वर्ष तक एकान्त साहित्य-सेवा का जो आपने विचार किया है, वह क्या मैं पूछ सकता हूँ कि उसे आप कब तक कार्य में परिणत करेंगे ?

मेरी हौकी की पुस्तक का क्या किया ? कृपया लिखियेगा।

संशोधित उपनियमावली आपकी सेवा में इस पत्र के साथ भेज रहा हूँ।........

आशा है आप सकुशल होंगे।

आपका
विनयान्वित
'वीरसिंह देव'

बनारसी दास चतुर्वेदी के नाम

Tikamgarh C. I.
22.12.33

My dear Guruji,

Many thanks for your letters of the 9th, 11th, 12th and 19th. I have already sent you a reply to your letter of the 19th, which I am sure must have reached you already.

I have already written you my idea about the Presidentship of the Hindi Sahitya Sammelan, for which my name is being suggested

in different papers by different persons. Therefore nothing more remains to be said except to re-assure you once more that nothing can be more dis-tasteful to my nature than to accept the much coveted for Presidentship of the Hindi Sahitya Sammelan, and I thank you very much for appreciating my point of view, that is to shun the lime-light; work solidity but silently asking for no reward or remmuneration, and for voicing it in the editorial of "Vishal Bharat".

I beg to differ from your decision of not to attend public literary meetings. I do not see any reason, why one should not attend them, provided one can avoid doing so in any official capacity of the meeting. There is all to learn and lose nothing, so in my humble opinion there is no rhyme or reason why one should shirk from attending such meetings. Don't you agree with me ?

I am glad to know that you will come to our Vasantotsava. With pleasure I promise to afford you all the facilities that you ask for.

I am sorry to say but I haven't such photographs of Betwa and of its neighbouring beauty spots. But I am going to Orchha on the 27th or 28th Jan. when I promise you, I will take the photographs you require and send them to you.

The financial details of our Kavi Sammelan, I will send you tomorrow, and also the other details.

I will surely meet the cost of printing of the tri-coloured block named "वसन्तोत्सव" and also of the paper.

Yes please, do get an enlargement painting made of Satya Narayanji. I would very much like to have it. Herewith I am enclosing a hundred rupees note.

Please accept my heartiest congratulations and many happy returns of your birthday. Standing on Ceremonies, may I ask what sort of birthday present you would like to have ? I ask you because I haven't the slightest notion about it. I am rather a bad hand at this sort of game.

And as for giving me a present, may I say, with your permission of course, that you have already bestowed on me the choicest of gifts-love for mother land and tongue. What more can a man wish for.

What do you think of my article "मेरी पिंडारी यात्रा" ? May I know ?

With kind regards,

Yours Sincerely,
Virsinghdev,
Sawai Mahendra Maharaja
Orchha.

डा० श्यामबिहारी मिश्र का पत्र

Victoria Club, Puri (B. & D.)
16th Jany. 1934.

May it please Your Highness,

I am delighted to read the most sympathetic contents of your gracious letter of the 9th which reached me here only yesterday afternoon. I thougt fit to give your Highness a full account of my illness after it was over, as I did not desire to cause any anxiety to Y. H., all is well that ends well and I have only to regain my full health and strength soon. I intended to have Y. H.'s **Darshan** on the Vasantotsava, but was advised by the doctor that it would not be free from risk to undertake such a long jouirney at present or to leave Puri before another 3 or 4 weeks. I hope Y. H. will not mind my absence, and will be pleased to instruct some one to express my regret to Chaturvediji and others taking part in our Kavi Sammelan at my enforced absence.

2. I note Y. H.'s wishes and the suggestions of Chaturvediji on the prize of Rs. 2000/- offered by Y. H. My opinion, as asked for by Y. H. is that there should be only one prize which should be, in the first place, allotted to some poetical work in **Braj Bhasha** if a really superior work of outstanding merit, composed during a period of three years from the date of the award of the prize, is forthcoming. In case it is not, the prize may go to a simllar poetical work in the Khari Boli. In difficulty of both, the prize may be split up into 2 to 4 parts and allotted to any really good poetical works in **Braj Bhasba** or **Khari Boli**, provided that, other things being equal, preference must invariably be given to Braj Bhasha works.

3. As regards the Board of Judges, I think the following should be its composition :—

(1) One representative of the Hindi Sahitya Sammelan, Allahabad.

(2) One representative of the Nagri Pracharini Sabha, Banaras.

(3) One representative of the Virendra Keshav Sahitya Parishad, Tikamgarh.

(4) & (5) Two representatives of H. H. of Orchha.

In my opinion it is the person paying the piper who must, at least to some extent command the tune. I don't think any individual,

however distinguished, should be one of the judges as such, and therefore Pt. M. P. Dwivedi or any other individual as such should be out of court, perhaps H. H. Orchha may nominate him as his own representative occasionally or even from year to year. The Nagri Pracharini Sabha of Agra has not much substantial work to its credit and is not well known, and therefore I would exclude it.

4. I really feel greatly disappointed and very sorry at your Highness' decision to withdraw your name from the list, sent up by the Sammelan Office to the Reception Committee, out of which 5 one is to be selected as President. I do believe Y. H. would very probably have been elected. However, I must reconcile myself to the position and bow to Y. H.'s decision. I feel that Chaturvediji is responsible for Y. H.'s decision and will have a talk with him on the subject when we meet next.

5. The note-paper selected by Chaubeji for Y. H. is quite nice. It will, I believe, be used for about a month in the year about the period covered by our Vasant festivities say upto the Holi ?

6. Sukhdeo Behari tenders his respectful thanks, mujra & blessings to Y. H. Your considerateness, I know, knows no bounds.

With best wishes and hearty felicitations of the season.

I remain,
Y. H.'s humble well-wisher,
Shyam Behari Mishra

बनारसीदास चतुर्वेदी के नाम

टीकमगढ़ सी० आई०
११-९-३४

प्रिय चौबे जी, पाँयलागन,

आपका पत्र ता० ५ का मिला, धन्यवाद !

मेरे अनुवाद को आप "विशाल भारत" में स्थान दे रहे हैं जानकर बड़ी प्रसन्नता हुई। जी मुझे आपके कार्यालय में ५०) मासिक पर अनुवादक स्थान स्वीकार है, पर वह 6 P.M. वाली शर्त मुझे स्वीकार नहीं क्योंकि ६ के बाद ही तो inspiration प्राप्त करने का समय होता है और उसी समय आप मुझे कमरे में बन्द कर लेना चाहते हैं, तो फिर मैं अनुवाद क्या करूँगा अपना सिर !

आज एक वर्ष होने को आया तभी मैंने आपसे विनय की थी कि अत्याधिक

परिश्रम आपके स्वास्थ्य पर असर कर रहा है और कुछ समय तक आपको अखिल विश्राम की आवश्यकता है पर आप मेरी सुनते भी तो। अन्ततः वह बात सामने आ ही गई। खुशी इस बात की है आपको भी यह भासने लगा कि विश्राम की आवश्यकता है। मैंने पहिले भी विनय की थी और अब पुनः दुहरा रहा हूँ कि टीकमगढ़ को आप अपना घर ही समझें। इससे ज्यादा खुशी मझे और क्या हो सकती है कि आप की मैं सेवा कर सकूँ, रही साहित्य सेवा की बात सो तो आप यहाँ रहकर भी कर सकते हैं।

देव पुरस्कार ! भला वह भो कोई ऐसी चीज है जिसकी कि आप अभिलाषा करें।

आप दशहरे पर तो यहाँ पधार ही रहे हैं तो तभी सब बातें तय हो जायंगी। अपना आना बसन्त पर न उस्टाइये। दशहरे पर ही पधारिये। १२ अक्टूबर को मैं आपकी बाट जोहूँगा।

जब मेरी आप इतनी प्रशंसा करते हैं तो फिर मुझ सा दूसरे शिष्य की आपको ऐसी क्या आवश्यकता है। यह आपने नहीं सुना है।

सौ सूर पृथ्विराज के, एक लाख कों एक
एक धवल चन्देल के, सौउ सूर कों एक

...... का कुछ न कहें, वह हिन्दी पढ़ना ठीक नहीं समझते, शायद उनका यह ख्याल है कि हिन्दी का विशेष अध्ययन करने से उनकी English खराब हो जायगी, और फिर वे "Home" जो हो आये हैं। छी. छी. वे क्या हिन्दी सी गन्दी भाषा पढ़ेंगे। आप भी खूब मृगतृष्णावत आशा उनसे रखते हैं।

सम्मेलन के कार्यकर्त्ताओं को आप सहर्ष लिख दें कि दिसम्बर के अन्त तक आप सत्यनारायण कुटीर के निमित्त ५००) भिजवा देंगे। इस सम्बन्ध में आपने मेरी बात मान ली तदर्थ अनेक धन्यवाद।

यहाँ पर सर्वसम्मति से प्रतियोगिता में छन्दों की गणना ही उड़ा दी गई है। उसके स्थानापन्न यह कर दिया गया है कि जो भी पुस्तक प्रतियोगिता में भेजी जाय वह किसी अन्य विद्वान अथवा ऐसी कोई हिन्दी संस्था द्वारा अनुमोदित होनी चाहिए। विशेष बातें इस सम्बन्ध की दशहरे पर होंगी।

नरोत्तम की Practice झाँसी में अब चल पड़ी है, मैं आज शाम को उनके यहाँ चाय पोने जा रहा हूँ।

शेष सब कुशल है, आशा है आप भी कुशल होंगे।

कृपया पत्रोत्तर शीघ्र दीजिए।

विनीत
वीरसिंह देव

स्व० वीरसिंह जू देव के पत्र स्व० मुंशी अजमेरी के नाम *

ओरछा स्टेट
टीकमगढ़ (सी० आई०)
३१. ५. ३२

प्रिय अजमेरी जी,

नमस्ते, आपका काव्य-पत्र मिला। और इससे पहिले दो पत्र और साकेत नाम की पुस्तक भी मिली। इन सबके लिये अनेक धन्यवाद। पुस्तक के लिये गुप्तजी से मेरी ओर से अनेक धन्यवाद कहियेगा।

यथासमय आपके पत्रों का उत्तर न दे सका, अतः क्षमा करियेगा।

हां! मुझे खूब स्मरण है कि "मधुकर शाह" को छपा देने के लिये कहा था और इसके लिये अपना चित्र भी देने को कहा था। उसे इस पत्र के साथ भेजता हूँ। कृपया स्वीकार कर अनुगृहीत करें। पुस्तिका को छपाने में क्या व्यय होगा सो भी लिखें। दरबार हौल में जो ग्रूप मैंने खींचा था, वह बनकर आ गया है। अतः उसे भी इसके साथ भेजता हूँ। आशा है पसन्द आवेगा।

आपने लिखा है कि आपका अपराध क्या है सो लिखूँ। तो यहाँ पर गुसाई जी की एक चौपाई उद्घृत किये देता हूँ। उसके द्वितीय चरण से आपको ज्ञात हो जावेगा।

—मिलत एक दारुण दुख देहीं।
—बिछुरत एक प्राण हर लेहीं।।

वास्तव में आलस्य मुख्य कारण है। अतः मैं लज्जित हूँ। कृपया क्षमा करियेगा।

दतिया राजकुमारी का विवाह है। मैं वहाँ १४ जून को जा रहा हूँ। क्या साथ चलने को अवकाश होगा? कृपया लिखियेगा।

आपका
वीरसिंह देव

ओरछा
१०. ७. ३३

प्रिय अजमेरी सी।

जय राधे। टीकमगढ़ से चला हुआ आपका पत्र मुझे कल यहाँ पर मिला। धन्यवाद।

---

* स्व० मुंशी अजमेरी के पौत्र श्री गुणसागर शर्मा के सौजन्य से प्राप्त।

आपने अच्छा ही किया कि सूर-सम्पादन के कार्य से त्याग-पत्र दे दिया। बाबू श्यामसुन्दर दास जी, भगवान उन्हें कुशल रक्खें, ऐसे व्यक्ति नहीं हैं कि उनसे सबकी पटे। यद्यपि उनसे मिलने का मुझे पहिला ही सौभाग्य है तथापि वे मुझे टेढ़ी खीर प्रतीत हुए थे। आपके त्याग-पत्र देने से मुझे तो सुख ही हुआ। अब आपसे चाहे जब भेंट हो सकेगी।

उस दफीने के सम्बन्ध में मैंने चन्द्रधर जी को लिखा था कि वे आपसे और बाबू श्यामसुन्दर दास जी से मिलकर सब बातें तय कर लें। मालूम नहीं कि वे आपसे मिले या नहीं।

मैं यहाँ पर आठ दस दिन और रहूँगा। आप घर के पते से ही इसका उत्तर भेजियेगा।

शेष सब कुशल है। आशा है आप कुशल होंगे। कृपया राय कृष्णदासजी से मेरा प्रणाम कहियेगा।

भवदीय,
वीरसिंह देव

————

ओरछा
१७-६-३३

प्रिय अजमेरी जी,

नमस्ते, आपका पत्र २५/५ का मिला। धन्यवाद। जैसा कि रामनारायण जी ने आपसे पूछा था कि मैं पहाड़ जा रहा हूँ कि नहीं, सो मैं पहाड़ गया था। किन्तु गरमी बिताने नहीं। प्रकृति-उपासकों में से एक होने के कारण उस महादेवी के दर्शनार्थ गया था। खाती-पिंजुरी (पिंडारी ग्लेशियर) देखने गया था। यात्रा का वर्णन यहाँ नहीं लिक्खूंगा। उसे आप जुलहाई या अगस्त के 'विशाल भारत' में देख लीजियेगा।

हाँ, बाबू श्यामसुन्दर जी का पत्र आया था। उसका उत्तर मैंने नहीं दिया। कारण जिस दिन पहाड़ जा रहा था, उसी दिन मिला। आज घर जा रहा हूँ, सो अब वहीं से लिक्खूंगा। जो कुछ उन्हें लिक्खूंगा सो आपको सूचित करूँगा। अंश के के सम्बन्ध में आपने कुछ नहीं कहा सो ठीक ही किया।

आपकी लड़कियों के सम्बन्ध में सज्जनसिंह जी से कह दूंगा। मुझे तो खूब स्मरण है।

हाँ! लौटते समय नैनीताल में कुछ दिवस रहा था। वहाँ मुझे एक शेर मिल

गया । कोई ९ फुट आठ इंच का था । सिकार का भई भैया, जातनै गगरी सी वोर लै ।

आज शाम को घर जा रहा हूँ ।

शेष सब कुशल हैं । आशा है आप सकुशल होंगे ।

भवदीय
बीरसिंह देव

———

टीकमगढ़—सी० आई०
२-७-३३

भैया अजमेरी जी,

जै राधे की । तुमाओ पत्र ता० २३ को काल संजा के मिलो । सिकत्तर साहब कों कसूर नैयां के उन्ने जा लिख दई के मैं तीर्थयात्रा कों गओ तो कायसे के उनें हिन्दी की यात्रा के लाने एकै शब्द आउत है और बो है "तीर्थयात्रा" । वे जानत हैं के यात्रा पूरौ शब्द नैया, "तीर्थ" लगा दैबे से पूरो होत । जा आय गुड़ी हती ।

सो श्यामसुन्दर दास जू परोपकार को मुड़ायछो बांदे फिरत ? का कैये साब बड़े परोपकारी ! आल्हा की बा तुक याद आगैइ के :—"रैय्या जूझे पराये काज ।" मैं उनें थोरे दिनन में पत्र लिखत हों । देखें का जवाब देत ।

अबै ग्लेसियर यात्रा को लेख अधूरो डरो कायसें के इते पौंच के दो तीन दिन के बाद मेरी रान में एक फोरा हो आओ तो । ऊ मुतरांयदे के मारे अबे लों ठीक तरां से बैठ नैइं पाउत । आसा है के दो तीन दिना में ठीक हो जेउँ ।

अबे दो तीन दिना भैंय बांस की दस बीस लठियाँ आँयी तीं सो उनमें एँ दो नवेरी हैं । और कड़ेरे के इते डार दई है । जोड़ तैयार होके आहें के उने स्यान-व्याम से लैस करके पठवा देंउ ।

नाहर के जो दोहा बना भेजे सो भौतै नोने बने । सबैइँ ने पसन्द करे । धन्यवाद ।

इतै सब प्रकार कुशलता है । आशा है अपुन कुशल सें हूहौ ।

भवदीय
बीरसिंह देव

———

कैम्प बल्देवगढ़
टीकमगढ़—सी० आई०
२९-१२-३३

प्रिय मुन्शी जी,

मुझे आज ही बनारसीदास जी का पत्र मिला है। वे लिखते हैं कि मेरी पिंडारी की यात्रा का लेख विशाल भारत के जनवरी अंक में छापेंगे। उस लेख में मैंने हिन्दी के शब्दों के अभाव के कारण कुछ बुन्देलखण्डी शब्द प्रयोग किये हैं। वे चौबेजी को बहुत पसन्द आये और वे लिखते हैं कि वैसे शब्दों की एक सूची बनाकर उन्हें दी जाय ताकि हिन्दी में उनका प्रचार किया जा सके। उन शब्दों का पता आपको लेख से लग ही जायगा पर दो-एक शब्द जो मुझे याद रह गये हैं—ठाँटा-पोंठ-खाँद इत्यादि। आशा है गुप्तजी भी इस कार्य में आपका हाथ बँटायेंगे। मैं गुप्तजी को एक पत्र घर जाकर लिखूँगा। आप टीकमगढ़ के पते से मुझे लिखियेगा।

शेष कुशल। इत्यलम्।

आपका
वीरसिंह देव

———

टीकमगढ़—सी० आई०
१-९-३४

प्रिय अजमेरी जी।

नमस्कार। इस बीच आपके दो चार पत्र आ गये पर यथासमय उनका उत्तर न दे सका, अतः खेद है। क्षमा करियेगा। दो चार महीनों से कुग्रहों ने हमारे घर को कुछ ऐसा घेर रक्खा है कि कुछ पूछो नहीं। एक न एक आफत सिर पर सवार बनी ही रहती है। उधर बहिन की शादी के सिलसिले में नाकों दम रहा और उसने अभी तक पीछा नहीं छोड़ा फिर मई के आरम्भ में ही मेरी बहिन जो इटौंजा ब्याही थी, मोतीझरा (Typhoid) से बीमार हो गई और जुलाई में उसका स्वर्गवास हो गया। उसको कुछ ही दिन बीते थे कि जुलाई के अन्तिम सप्ताह मेरे साले बढ़वान ठाकुर साहब का स्वर्गवास हो गया। और आज २०/२२ दिन से रानीजू और मेरी बच्ची सुधा दोनों मोतीझरा से पीड़ित हैं। रानी जू की तबियत तो अच्छी है और आशा है कि एकाद सप्ताह में ठीक हो जांयगी। सुधा की जेनरल कन्डीशन अच्छी है पर ज्वर ने अभी पीछा नहीं छोड़ा पर डाक्टरों का कहना है कि ५-६ दिन में ज्वर कम होने लगेगा और १५ दिन में बिलकुल न रहेगा। भगवान करे ऐसा ही हो।

आप विश्वास रखिये कि जो कुछ आप मुझसे कहेंगे वह मुझे कदापि अप्रिय नहीं लग सकता। मुझे आपही ऐसे एक व्यक्ति की आवश्यता थी जो स्पष्ट कह सके।

यहाँ के लोग मुझसे कभी कुछ नहीं कहते अतः मुझे मालूम ही क्या हो सकता है। देहली से लौटकर मैंने शासन की नई प्रणाली योजित की है। वह पहिली अक्टूबर से कार्यरूप में परिणित की जायगी। आशा है कि उससे आपकी सब शंकाओं का समाधान हो जायगा।

अबकी बार तो आपका दौरा बड़ा लम्बा चौड़ा रहा। तो..........नरेश से भी भेंट हुई। सुनते हैं बड़े विद्वान हैं, पर अभिमान की मात्रा कुछ विशेष है। आपने इन्हें कैसा पाया ?

केशव-साहित्य-परिषद ने "देव" पुरस्कार के उपनियम बना लिये हैं। पर उनमें एक उपनियम विचारणीय है। इसलिए मैं चाहता हूँ कि दो चार जनें मिलकर इस पर विचार करें और सर्व सम्मति से जो ठहरे वह नियत हो। मेरी इच्छा है कि आप मैथिलीशरण जी और सियारामशरण जी ५ तारीख को दो तीन दिवस के लिये यहाँ पधारें। यह अत्यावश्यक है। गुप्त भ्राताओं को मेरी ओर से आग्रह करियेगा। मैंने चौबे जी को भी लिखा है। वे भी शायद आवेंगे। इस सम्वन्ध में तार से सूचित करियेगा।

यह जानकर बड़ी खुशी हुई कि बुन्देलखण्डी शब्दों का कोश बनाना आपने प्रारम्भ कर दिया है।

हाँ ! आपको बुलाने का दूसरा कारण यह भी है कि देहली में चन्दा इकट्ठा करने की बात-चीत हुई थी सो उस सम्बन्ध में भी परामर्श करने की आवश्यकता आ पड़ी है। वह तो अत्यावश्यक है अवश्य आइयेगा।

मैथिलीशरण जी और सियारामशरण जी से मेरा नमस्कार कहियेगा।

आशा है आप सपरिवार सकुशल होंगे।

आपका
वीरसिंह देव

टीकमगढ़
२०/१०/३६

प्रिय मुंशी जी। प्रणाम।

आपका पत्र ता० १२ का मुझे यथासमय मिला। अभी तक उत्तर न दे सका सो क्षमा करियेगा। इधर कई कामों में उलझे रहने के कारण अवकाश ही नहीं मिला।

यह सुनकर बड़ी खुशी हुई कि जंगबहादुर और आपके पोते की सगाई हो गई। बधाई है।

तो इस चल फिर में बापू से भी भेंट हुई और काका कालेलकर जी से भी। नहीं, अभी तक कालेलकर जी का कोई पत्र नहीं मिला। सम्भव है वे भूल गये हों। बापू से तो कई व्यक्ति रोजाना मिलते रहते हैं। किस-किस की उन्हें स्मरण रहे। अतः कोई आश्चर्य नहीं कि उन्हें मेरा स्मरण भूल गया हो। मेरी भावना है कि काशी वालों का अत्याचार बापू को स्वीकार करना पड़े। देखिये क्या होता है।

आप अस्वस्थ हैं जानकर बड़ा दुख हुआ। आशा है शीघ्र ही आपका स्वास्थ्य ठीक हो जायेगा।

कुछ दिन हुए राय कृष्णदास जी का पत्र आया था। उन्होंने भी लिखा था कि मैं आपको बनारस मैथिलीशरण जी की जयन्ती में सम्मिलित होने के लिए भेजूं। मेरी पूरी तरह अनुमति है कि आप जांय।

मुझे खेद है कि मैं झांसी न आ सका। आपके लेख से प्रतीत होता है कि कुश्ती बड़ी अच्छी हुई होगी फिर बदइंतेजामी का हाल सुनकर यह भी होता है कि अच्छा ही हुआ कि मैं नहीं आया।

हाँ एक बात भूल गया कि यदि आपके जुकाम की जो दवाई चल रही है उससे यदि कोई लाभ होता न जंचे तो एक मेरा चुटकुला भी आजमायें। वह यों है—

कि प्रातःकाल गरम कपड़े पहिन कर आप टहलने जांय और इतना टहलें कि खूब पसीना आ जाय। घर लौटने पर भींगे कपड़े उतार कर और शरीर को तौलिया से पोंछ कर दूसरे कपड़े पहिन लें। ध्यान रहे कि कपड़े ऐसी जगह बदलें कि जहाँ शरीर को हवा न लगने पाय। कपड़े बदल कर दो कागदी नीबू के रस में थोड़ी सी काली मिरच और नमक मिलाकर बिना पानी मिलाये हुए पी जाँय। यही शाम को करें। और रात को सोने से पहिले एक चौड़े बरतन में जितना आप सह सकें उतना गरम पानी भर कर उसमें दस मिनट तक पाँव रख और शरीर पर गरम कपड़ा या कम्बल ओढ़ कर बैठें। उससे शरीर से खूब पसीना निकलेगा किन्तु ध्यान रहे कि कि पानी ठंडा न हो पाय और उस समय हवा भी न लग पाय। दस मिनट के बाद शरीर पोंछ कर और कपड़े बदल कर पलंग पर ओढ़कर सो जाँय। खाने पीने का कोई परहेज नहीं। हाँ यदि हलका खाना खाया जाय तो उत्तम है। भगवान चाहेगा तो आठ दिन में आरम्भ हो जायगा।

शेष सब कुशल है। आशा है आप भी सकुटुम्ब सकुशल होंगे।

भवदीय
वीरसिंह देव

———

डेली कालेज, इन्दौर
३१-७-३६

प्रिय मुंशी जी,

नमस्ते। आपका पत्र ता० २१ का मिला। धन्यवाद। यह जानकर बड़ी ख़ुशी हुई कि सावन तीज को अच्छा सा उत्सव वहाँ हो गया। दशहरे के आस-पास जो तिथि उत्सव के लिये निश्चित हो उसकी सूचना अवश्य भेजियेगा। बालकृष्ण जी ने जब आपसे मुझे छोड़ने के लिये नहीं कहा तब आपने भी मेरे विचार उनसे प्रकट किये थे या नहीं ? फिर उनको सुनकर उन्होंने क्या कहा ? मैं फिर से दुहराता हूँ कि मैं कदापि सभापति बनने का नहीं। मेरे इस निश्चय को आप ध्रुव समझें।

टाइप-रायटर के विषय में जो आपने लिखा वह ठीक है। आप अवश्य छोटेलाल जी को नक्शा भिजवाकर उनकी सम्मति ले लें। अच्छा हो यदि आप उन्हें यह लिख दें कि वे अपनी सम्मति पर बायरी मुझे बम्बई के पते से लिख भेजें। इससे बहुत कुछ समय बच जायगा। आपने जो "ख" के सम्बन्ध में लिखा सो ठीक है और मैं आपसे सहमत हूँ किन्तु इस "ख" की जगह गुजराती अथवा किसी अन्य वर्णमाला से अक्षर लेने की मेरी राय नहीं क्यों "ख" के स्थानापन्न "ष" का प्रयोग किया जा सकता है क्योंकि दो श की आवश्यकता नहीं। जहाँ ष का प्रयोग श के उच्चारण में किया जाता है जैसे "मनुष्य" वहाँ पर श का प्रयोग करना ठीक होगा अर्थात् "मनुष्य"—"मनुश्य" लिखा जा सकता है। आपको यह योजना कैसी प्रतीत होती है और गुप्त बन्धुओं को ? सो लिखियेगा। किन्तु इसके लिए आन्दोलन करना होगा तभी इसका प्रयोग किया जा सकता है। तब तक तो 'ख' के प्रयोग से ही सन्तोष होगा। न, ल, की आवश्यता नहीं। द्य और छ इसलिए रख दिये हैं कि वे दो स्थान खाली रहते थे अतः उन्हें रख दिया था और कोई विशेष कारण नहीं। इस बीच यदि कोई और उपयोगी भाषा या गणित के चिन्ह याद आ गये तो उन्हें रख दूंगा। यदि आपही गुप्त-बन्धुओं से सलाह लेकर कोई प्रस्ताव उपस्थित कर सकें तो और भी अच्छा हो।

इस पत्र का उत्तर कृपया बम्बई के पते से दें क्योंकि परसों मैं बम्बई के लिए रवाना हो जाऊँगा।

कृपया गुप्त-बन्धुओं से मेरी नमस्ते कहिये।

शेष सब कुशल है। आप सब भी सकुशल होंगे।

भवदीय
वीरसिंह देव

———

श्री बालकृष्ण देवजी तैलंग के नाम

डेली कालेज (इन्दौर)
२७-३-१९१७

प्रिय मित्र,

आपका पत्र मिला। पढ़कर अत्यन्त आनन्द हुआ हम सब यहाँ पर ईश्वर की कृपा से आनन्द में।

हाँ ! एक नई बात सुनाना है वह यह है कि यहाँ पर तिलक लगाने का order हो गया है और हिन्दू तहवार को धोती पहिन कर मन्दिर जाना चाहिए।

अब तो मैं एक खासा मजे का तिलकधारी बन गया हूँ।

मैं हिन्दी अच्छी तरह समझ सकता हूँ और पढ़ भी सकता हूँ क्योंकि उसका अध्ययन करते-करते आज दस बारह वर्ष हुई इसलिए कृपा करके हिन्दी में पत्र लिखने की तस्दी लें। परन्तु साफ जिसमें पढ़ी जा सके।

आपका मित्र
वीरसिंह

डेली कालेज, इन्दौर
२६-८-१७

प्रिय बन्धुवर,

आपका आनन्द दायक पत्र अल्प दिवस पहिले प्राप्त हुआ था। उसके लिये कोटिशः धन्यवाद। यहाँ ईश्वर की कृपा से सर्व भाँति आनन्द है। आशा है आप भी कुशल पूर्वक होंगे।

यहाँ पर इन्द्र देव की बड़ी कृपा हो रही है। भगवान भासकर के दर्शन तो प्रायः दुर्लभ ही हो गये हैं।

मैं इतना उच्च कोटि का विद्वान तो नहीं हूँ कि आप ऐसे कविता प्रिय विद्वान को समस्या देने में समर्थ होऊँ। परन्तु हाँ तब भी अपनी अल्प बुद्धि के अनुसार समस्या देने का साहस करता हूँ। आशा है कि वह ठीक होगी। उसका ठीक होना न होना आपकी पूर्ति पर निर्भर है।

समस्या—(१) "मर्दन कियो है मान अन्य छत्रपतियन को।"
(२) "हरि को पूजन इहि विधि ठाऊँ।"

दूसरी समस्या को भीष्म पितामह के युद्ध पर यदि हो सके तो घटाइये।

हमारे भूत काल के शिक्षक और वर्तमान काल के श्री मान् दीवान बिजावर को मेरी तरफ से दण्डवत कहने की कृपा कीजिए, और आपकी पूज्य माता तथा भगिनी को भी।

भवदीय
वीरसिंह

अजमेर हाउस
मेयो कालेज
अजमेर
२३-८-१८

दिवान साहब से मेरी जय राधे की कहना।

प्रिय मित्र,

आपका पत्र आज के दिवस मुझे प्राप्त हुआ। यहाँ पर आपके और स्वामीजी के शुभाशीर्वाद से सर्वथा कुशल है। आशा है आप सब भी कुशल पूर्वक होंगे।

यह सुन कर बड़ा आनन्द हुआ कि आप स्वामी जी के पास विद्याध्ययनार्थ जाते हैं। आशा है कि स्वामी जी के समान उत्तम गुरु के अनुग्रह से विद्या सम्पादन करने में शीघ्र समर्थ होंगे। हाँ एक द्वेष अवश्य होता है कि मैं विद्या प्राप्त करने में असमर्थ हो रहा हूँ। आशा है कि मैं भी शीघ्र ही तुम्हारा सहपाठी हो जाऊँगा। क्योंकि महात्मा तुलसीदास जी की वाणी है कि :—

"जो इच्छा करिहो मन मांहीं, राम कृपा कछु दुर्लभ नाहीं।"

वहाँ पर वर्षा का क्या हाल है सो लिखना। यहाँ पर दो चार दिवस से पानी पड़ा है और आशा है कि और भी पानी पड़ेगा।

हाँ मित्र तुममें एक बात और नई पाई। अब तो अँग्रेजी में पत्र लिखना सीख लिया। यह कब से ? संस्कृत पढ़कर क्या हिन्दी त्याग दी ? गौ को पाकर क्या दूध को फेंक दोगे ?

इस कालेज में मुझे तनिक भी नहीं सुहाता, कारण यह है कि एक तो पढ़ाई अच्छी नहीं होती और दूसरे यहाँ का खाता बड़ा ही ढीला हैं। वही कहावत है कि :—

"अँधेर नगरी बेबूझ राजा,
टके सेर भाजी टके सेर खाजा।"

भगवान ही है यदि पार पाड़दे तो, डेली कोलेज से हम १७ लड़के यहाँ पर

भेजे गए हैं। यहाँ की सब बातें लिखने में असमर्थ हूँ क्योंकि समय बहुत नष्ट होगा, सब बातें प्रत्यक्ष में कहूँगा। अपने ढंग की बड़ी रोचक हैं।

स्वामी जी से मेरा दण्डवत कह देना। गौरानी जी जगमहल जाने लगीं कि नहीं ? उनसे भी मेरा दण्डवत कह देना।

तुम्हारा
वीर

जगमहल, टीकमगढ़
सी० आई०
२०-३-२१

प्रिय भट्ट जी

प्रणाम, अत्र कुशलम् तत्रास्तु। पत्र आपका गत दिवस को प्राप्त हुआ। तदर्थ कोटिशः धन्यवाद, यह जानकर मुझे बड़ा आनन्द हुआ कि मेरी लिखी समस्या आपके पसन्द आई। यह सुनकर और भी आनन्द हुआ कि वहाँ पर "साहित्य वर्द्धनी" नामक सभा स्थापित की गई है। क्यों न हो। वहाँ के मन्त्री साहित्य प्रेमी हैं। हमारे यहाँ के ठहरे घुघ्घू, और साहित्य ठहरा शोर गुल का मामला। अतः आपकी आश्रय-दाता रात्रि का सन्नाटा विशेष पसन्द है। आपकी सभा में जो समस्या दी गई है उनकी जब पूर्ति हो तो आप उन्हें अवश्य भिजवा दीजियेगा। आप अपने चित्त को विकल न कीजियेगा ईश्वर सब अच्छा करेगा। P. A यहाँ पर ७ तारीख को आये थे और १९ तारीख को गये। पिता जी के समय में जो A. G. G. से मेरे काम सिखाने को भेजने का प्रबन्ध किया गया था उसी को ठीक करने के लिये P. A. आया हुआ था। अब करीब ठीक भी हो गया है। पितामह ने स्वीकार भी कर लिया है। अतः आशा है कि थोड़े दिवसों में सब ठीक हो जायगा। यह समाचार आप बिहारी और दीवान साहिब से कह देना और से नहीं। उनसे भी गुप्त रखने को कह दीजियेगा। विशेष कुछ नहीं।

भवदीय
वीरसिंह देव

बन्दा जिला सागर, सी० पी०
१-१-२२

प्रिय भट्ट जी

दंडवत स्वीकार हो। अत्र कुशलम् तत्रास्तु। यह सुनकर शोक हुआ कि बड़ी बिन्नू को ज्वर आ रहा है। आशा है कि अब स्वस्थ होंगी। मैंने जो पं० छोटेलाल को मुझसे मिलने के लिये तार दिया था उसका उन्होंने निम्नलिखित उत्तर दिया था "मैं इस समय कार्य वशात नहीं आ सकता क्षमा प्रार्थी हूँ। कृपया कार्य जनाइये।" इसके पश्चात् मुझे यहाँ आना पड़ा अतः मैंने इस विषय को छोड़ दिया। मैं जब सागर जाऊंगा तब पुनः उन्हें सूचना दूंगा। कपड़े के बटन भी जभी भेजूंगा। इस पत्र के साथ दस रुपये का नोट भेजता हूँ आशा है प्राप्त होगा। कृपया फिर लिखियेगा कि मासिक कितने की आवश्यकता होगी। बिजावर से बिहारी की कविता जितनी हो सके उतनी भेजा करें। नवीन और प्राचीन। मैं उन्हें लिख लिख कर थक गया। वे अपनी नवीन रचना तो भेजते हैं किन्तु प्राचीन नहीं। कृपया आप अवश्य इसका प्रवन्ध करें।

भवदीय
वीरसिंह देव

जय श्री राधे शयाम

जग महल, टीकमगढ़
सी० आई०

प्रिय भट्ट जी

प्रणाम। अत्र कुशलम् तत्रास्तु। सुना है कि बेरी राव साहिब का स्वास्थ्य अब ठीक है। यहाँ के नवीन समाचार यही हैं कि श्रीमान् का शुभ विवाह कार्य आरम्भ हो चुका है। कल हाथ पर लगुन धरी गई थी। बड़ा उत्सव हुआ था। स्त्रियाँ नन्ने बनां की मधुर मुसक्यान बरना गा रही थीं। सज्जन सिंह जी चले गये हैं। कन्नू भाई यहाँ पर सकुशल पहुँच गये हैं।

भवदीय
वीरसिंह देव

टीकमगढ़ सी० आई०
आश्वनि कृष्णा ६, मंगलवार संवत् १९८२

प्रिय भट्ट जी दंडवत्

आपका पत्र त्रतीया का प्राप्त हुआ। यह सुनकर हर्ष हुआ कि आप पूज्य पिता जी की जीवनी लिख रहे हैं। इस कार्य में दिवान बादलजू आपकी विशेष सहायता कर सकेंगे। यदि आप नव दुर्गा के पहिले यहाँ आ सकें तो एक पंथ दो काज हो जाय। आपने जो विवाह के लिए शुभ मुहूर्त निर्माण किया तदर्थ अनेकानेक धन्यवाद। भला हमारे आपके बीच में दक्षिणा की क्या बात? सब हाजिर है। आपका निर्माण किया हुआ मुहूर्त युवरानी साहब गोंडल को आज ही लिखे भेजता हूँ। देखें क्या उत्तर आता है। आशा है वे स्वीकार करेंगी। मुहूर्त ठीक मेरे मनोनुकूल ही निर्माणित हुआ है। दोहों के लिये धन्यवाद। शोक कि अब के वर्ष आप कृत दोहा नहीं छपवा सकूंगा। कारण दोहे देर से मिले। बिहारी का दोहा भेज चुका हूँ। अजयगढ़ की घटित घटना श्रवण कर बड़ा खेद हुआ। पारस्परिक प्रेम भी निभ गया तो फिर कोई हानि नहीं।

अत्र कुशलम् तत्रास्तु

भवदीय
वीरसिंह देव

१७-९

प्रिय बलवंत

रज्जू भाई को इन्दौर में Squash खेलने में आँख में सख्त चोट आई है।

कृपया बताइए कि इससे आँख की दृष्टि की कोई हानि तो नहीं पहुँचेगी? यह लिखते समय पौने नौ बज रहे हैं।

यदि आपको याद हो तो कृपया यह कवित्त "सोहत टिकैत मधुशाह अनियारो जिम, नागन के बीच मनियारो पेखियतु है"

और

यह दोहा :— "मधुकर मधुकर शाह" लिख भेजिये

भवदीय
वीरसिंह देव

३०

बुन्देलखण्ड

श्री मौलवी मंजर साहब

(१)

हम आबोदाना जब तेरा खावें बुन्देलखण्ड ।
फिर क्यों न तेरी रागिनी गावें बुन्देलखण्ड ।
धन-धान अपना तुझ पै लुटावें बुन्देलखण्ड ।
गैरों के दर पै सर न झुकायें-बुन्देलखण्ड ।
बुन्देलखण्डी खुद ही बनायें बुन्देलखण्ड ।

(२)

जिस दिन तू बा खबर था, जमाना था बेखबर ।
जिस दिन तेरी निगाह से रोशन थी हर नजर ।
जिस दिन तेरे ज़माने का जलवा था सरबसर ।
जिस दिन तेरी ज़बान का जादू था पुर-असर ।
वह दिन कहाँ से ढूंढ़ कर लावें बुन्देलखण्ड ।

(३)

आ जाय अपने हाथ अगर अपना बोस्तां ।
गुल रंग हो ज़मीन तो खुश रग आसमां ।
हर फूल की निगाह से रूपोश हो खिज़ां ।
अपना ही बाग़ो राग हो अपना ही बागवां ।
दुनियाँ को फिर बना के बतायें बुन्देलखण्ड ।

(४)

आजादियों का दौर हो, सर मस्त ज़िन्दगी ।
खुशबू चमन-चमन हो, शिगुफ़ा कली-कली ।
दिन हों हँसी खुशी के तो रातें बहार की ।
दुनियाए दिल कशी में हो ज़लवों की सादगी ।
क्या-क्या न पायें तुझ को जो पाएं बुन्देलखण्ड ।

(५)

इक साथ मिल कर जोर लगायें जो हम वतन ।
थक कर गिरे हुओं को, उठायें जो हम वतन ।
नारे लगायें शोर मचायें जो हम वतन ।
पिछड़े हुओं को अपने मिलायें जो हम वतन ।
आजाद तुझ को आज करायें बुन्देलखण्ड ।

(६)

तेरे चिरागे हुस्न की मध्यम सी रोशनी ।
कुछ-कुछ है ओरछे में अभी झिल मिला रही ।
परवानों की नज़र है उसी पर जमी हुई ।
हो जाय 'देव' कृपा तो अहले वफ़ा अभी ।
जैसा था तुझ को वैसा बनायें बुन्देलखण्ड ।

———

३१

स्वर्गीय ओरछेश
श्रद्धांजलि

•

स्वर्गीय कालिदास कपूर

मेरा विचार है कि जो घराने स्वातंत्र्य प्रिय होते हैं, वीर होते हैं, वही समुचित वातावरण मिलने पर स्वभूमि में जन्मे साहित्य और साहित्यिकों के रक्षक भी होते हैं। ओरछा के अधिपति कभी भी मुगल राज्य के पूर्णरूपेण अधीन नहीं हुए। अपनी भूमि में प्राय स्वतन्त्र ही रहे। तभी तो वे केशव जैसे कवि के पोषक हो सके।

आधुनिक काल में हिन्दी साहित्य का पुनरुत्थान होने पर ओरछाधीश हिन्दी के संरक्षण, और प्रोत्साहन में अन्य भारतीय घरानों के आगे हुए। यों इसी घराने के संरक्षण में मिश्र बन्धुओं को साहित्य सेवा का अवसर मिला और स्वर्गीय श्यामबिहारी मिश्र के वैतनिक सेवा से मुक्त होने के कुछ समय पश्चात इसी राजघराने के संरक्षण में चतुर्वेदी जी का चाय-चक्रम सम्भव हुआ।

मुझे विन्ध्य भूमि का कुछ अंश देखने की इच्छा थी, कुंडेश्वर के प्राकृतिक सौन्दर्य के दर्शन करना चाहता था, चतुर्वेदी जी के साथ एक सप्ताह रहने की तमन्ना थी और इस बहाने उनके संरक्षक महाराज वीरसिंह जू देव के दर्शन की भी कामना थी। मुर्दरिस की राम कहानी पूरी होने पर मुझे यात्रा का उपयुक्त बहाना मिला और पहली जुलाई १९५२ के पहले पहर मैं कुण्डेश्वर पहुँचा।

महाराज वीरसिंह जू देव उस समय तक शासन के दायित्वों से मुक्त हो चुके थे। दायित्वों से मुक्त होने पर आमतौर से लोग आलसी और निष्क्रिय हो जाते हैं। वीरसिंह जू देव इस निष्क्रियता से भी मुक्त थे। पहले से अधिक वह अब साहित्यिक गोष्ठी के प्रेमी हो गये थे। मेरे पहुँचते ही चौबे जी ने मेरे विषय में महाराज को सूचना दी और शीघ्र ही एक प्रातः काल वह अपनी मोटर में कुण्डेश्वर पहुँच गये। मेरी कल्पना में रत्नजटित मुकुट पहने, जड़ाऊ आभूषणों से लदे और मुखारबिन्द पर विलासी जीवन की रेखाओं से युक्त महाराज ही चित्रित थे। मेरे सामने जो व्यक्ति प्रत्यक्ष हुए वह मेरे ही जैसे मध्यम वर्ग के एक प्रौढ़ शिक्षित सज्जन थे। कुण्डेश्वर के जिस कोठी में चतुर्वेदी जी रहते थे, वह उन्हीं का दिया हुआ था। उस

भवन से लगी वाटिका में एक सघन वृक्ष की छाया में हम सब साधारण कुर्सियों पर बैठ गये। वीरसिंह जू देव की कुर्सी में कोई विशेषता न थी।

शिकारी पी कैप (छज्जेदार टोपी) के नीचे रेशमी बुशर्ट पतलून और नंगे पैरों में टीकमगढ़ के जूते पहने महाराज अवस्था में हम दोनों के बराबर ही जँचे।

वार्तालाप प्रारम्भ हुआ। पूर्व परिचय न होने के कारण मैं तो उनसे बेतकुल्लुफी की कोई बात न कर सका, परन्तु चतुर्वेदी जी तो मुझे उनके लंगोटिया मित्र जैसे जँचे, यद्यपि किसी अतीत में वह उनको इन्दौर के डेली कॉलेज में पढ़ा चुके थे। एक ओर गुरु-चेले का विनोदमय हास चलता रहा और दूसरी ओर मैं विन्ध्य प्रदेश की प्राकृतिक तथा साहित्यिक निधि और उसकी सुरक्षा तथा सदुपयोग की बातें बीच-बीच में करता रहा। मुझे वीरसिंह जू बहुत ही उदार हृदय और क्रियाशील जानकार मालुम हुए। वह एक छोटे राज्य के शासक रहे थे। यदि अधिकांश स्वदेशी शासक इनके जैसे उदार जनवादी होते तो देशी राज्यों के विलयन के पक्ष में आन्दोलन इतना तीव्र न होता।

वीरसिंह जू विलयन के प्रस्ताव के पक्ष में विन्ध्य प्रदेश के राज्यों में अग्रणी थे और विलयन होने पर परिवर्तित आर्थिक स्थिति के अनुकूल उन्होंने अपना रहन-सहन भी बना लिया था। किला और महल छोड़कर अब वह एक छोटे परन्तु रमणीक बंगले में रहने लगे थे। टीकमगढ़ से दो-तीन मील दूर वन के मध्य बाँध बनवाकर उन्होंने सुधा सागर नामक विस्तृत जलाशय तैयार कराया था और उसके निकट वह एक कोठी उन दिनों बनवा रहे थे। उन्होंने हमें टीकमगढ़ की इन नई निधियों की सैर के लिए निमन्त्रित किया।

मैं वीरसिंह जू से बात करता जाता था, परन्तु मेरी नजर उनके जूते पर थी। वह जिस मेल का जूता पहनते थे, वह लखनवियों को नसीब न था। मैंने कहा, मुझे यह टीकमगढ़ की कारीगरी मालूम होती है। उन्होंने उतारकर सामने कर दिये। मेरे पैरों में वे फिट भी हो गये। कहने लगे ये तो आपके हैं। मैंने कहा, ये तो नहीं, परन्तु ऐसी एक जोड़ी टीकमगढ़ की सौगात लेकर जाना चाहता हूँ। मंजूरी मिल गई।

दूसरे-तीसरे दिन हम निमन्त्रित हुए। विन्ध्य प्रदेश की वनस्थली की सैर करने का यह पहला ही अवसर था। कई मील लम्बी सड़क के दोनों ओर वन और उसके अन्त में सुधासागर तथा उसके तट पर बन रहा भवन। महाराजा साहब ने हमें इस भवन की सैर कराई, उसकी छत पर से हमने सुधासागर तथा उसके परे विस्तृत वन्य दृश्य का रसास्वादन किया। फिर थोड़ी देर तक विन्ध्य प्रदेश की उस निधि पर विचार-विमर्श हुआ जो हमारे सामने थी। महाराजा साहब कहते थे कि इस वन में सैकड़ों गौ हैं, परन्तु इनसे खेती को हानि ही पहुँचती है, इनसे

टीकमगढ़ की जनता को दूध नहीं मिलता। उनका कहना बिल्कुल सत्य था। टीकमगढ़ और विन्ध्य प्रदेश के वनों में वैज्ञानिक गोपालन से इस भूमि में दूध की नदियाँ बहनी सम्भव थीं। सो हमारी धर्मान्धता के कारण हमारी निधि अभिशाप होकर ही हमें मिल रही थी। टीकमगढ़ में दूध लखनऊ की अपेक्षा मँहगा था।

संध्या होने पर महाराज के साथ हम उनके बंगले पहुँचे। भवन बहुत बड़ा न था, परन्तु जिस सुचारुता से वाटिका लगाई गई थी, उससे महाराजा साहब के इस अवकाश गृह के सौन्दर्य में चार चाँद लग गये थे।

गोष्ठी में जलपान हुआ। उसमें मुझे सम्मिलित होने का साहस नहीं हुआ, तो मैं आतिथेय के पुस्तकालय के निरीक्षण में लगा। महाराज साहब साहित्यिकों का आदर करते थे, साहित्य चर्चा में उनका मनोरंजन होता था। परन्तु आखेट उनका व्यसन था। अतएव उनके पुस्तकालय में आखेट विषयक पुस्तकों का प्राधान्य था।

थोड़ी देर तक वार्तालाप के पश्चात जब हम चलने को हुए, तो मुझे टीकमगढ़ी जूते की जोड़ी नजर की गई। कदाचित यह वही थी, जिसे पहने हुए पिछले दिन मैंने महाराजा साहब को देखा था। मैंने कहा,—मैं अधिकारी नहीं, परन्तु अंग्रेजी में एक मौजू मुहावरा मुझे याद आया—I am honoured by stepping into your shoes. वही कहते हुए मैंने जूते की जोड़ी बगल में की और हम दोनों—चतुर्वेदी जी और मैं महाराजा साहब से विदा हुए।

महाराजा साहब अब वहाँ हैं, जहाँ उनके पूर्वज पहले से पहुँचे हुए हैं और जहाँ हम सब को पहुँचना है। महाराजाओं और नवाबों का युग बीत गया, अब जनयुग का प्रथम चरण हमारे देश पर है। भारतीय जन अभी अपनी मौलिक आवश्यकताओं की खोज में व्यस्त हैं। मानसिक भोजन उसकी मौलिक आवश्यकता नहीं। अतएव इस भोजन के उत्पादक की अभी विशेष कद्र नहीं। परन्तु एक समय आना है जब यह जनमौलिक आवश्यकताओं से तृप्त होकर मानसिक भोजन का भूखा होगा; तभी साहित्यिक का समुचित आदर होगा। साहित्यिक का यह स्वर्णिम भविष्य यथेष्ट दूर है। तब तक यदि वह देश के विलीन भूपतियों की याद करता रहे, जो अतीत में उसका पोषण और संरक्षण करते रहे हैं, तो अपने स्वर्णिम अतीत का गुणगान उसके लिए क्षम्य है।

३२

वे अन्तःपुर

•

शिवानी

आज टीकमगढ़ के विस्मृत राज प्रासाद के अन्तःपुर की स्मृति, मुझे तीस वर्ष पूर्व हुई एक अपूर्व गोष्ठी के बीच, बार-बार खींच रही है। कैसा आश्चर्य है कि जहाँ कहानी की सृष्टि अपने बस की बात नहीं है, प्रसव वेदना की भाँति वह स्वयं अपना समय निर्धारित करती है, वहीं पर संस्मरणों की मंजूषा कभी भी किसी उजड़े इत्रफरोश की काँच लगी रिक्त मंजूषा की भाँति ढकना खोलते ही, अपनी मादक भ्रामक सुगन्ध से सूँघने वाले को भाव-विभोर कर देती है।

बुन्देलखण्ड की सुरम्य पृष्ठ भूमि में, कँकरीली छोटी-मोटी ऊबड़-खाबड़ पहाड़ियों के बीच खड़ा ऐतिहासिक दुर्ग द्वार। छोटे-मोटे जालीदार झरोखों से झांकती मृगनैनियाँ, टेढ़ी-मेढ़ी मारवाड़ी घाघरे के से घुमावदार लौहसोपान, और पीतल के चमकते कील जड़े ठेठ बुन्देलखण्डी ऐसे लौह कपाट जिन्हें कभी औरंगजेब की निर्मम गोलाबारी भी नहीं हिला सकी थी। कई छोटे-मोटे दालान, संगमरमरी तुलसी चौरे को पार कर, किले की अन्तःपुर की विराट ड्योड़ी के प्रांगण में पहुँचती हूँ।

बाँका जयपुरी लहरदार साफा और तंग जोधपुरी पर सफेद बन्द गले के शार्कस्किन का कोट पहने ड्योड़ी अफसर विरजन भैया, अतिथियों की सूची बना रहे हैं। आठ-दस मालिनें दक्ष हाथों से बड़े-बड़े कनेर और लाल हरी पत्ती से सजाती बेले के गजरे गूँथ रही हैं।

महल के कल्लू दर्जी को दम मारने की फुर्सत नहीं है, राज कन्या के नाटक के लिए विशेष पोषाक बनाने का सम्मान मिला है उसे! उधर राजकन्या के कमरे का कहना ही क्या? शेर की चमड़ी-मढ़े उनके पीतल के काठियावाड़ी झूले पर, हल्की-हल्की पेंगें लेती, सोने के पानदान से गुलाब जल भीगे सुवाषित मघई पान गुलगुलाती स्वयं महारानी साहिबा, रंच-मंच बनवा रही हैं। क्या सौम्य आकृति है बा साहब की और कैसा रौब? कानों में झूल रहे हैं हीरे के नन्हें झुमके, पैरों में पड़ी सोने की पायजेब हर पैंग के साथ झनझना उठती हैं। शरीर भारी होने से ही शायद चाल में एक अलस गरिमा आ गई है, किन्तु सबसे आकर्षक है उनकी स्नेहसिक्त मुस्कान। विशेष प्रकार से तीन बार झुककर उन्हें प्रणाम करने का कठोर नियम है। एक लम्बे अर्से तक बोर्डिंग में रहने के कारण, सब रियासती अदब कायदे भूल गई हूँ;

पर जितनी ही बार उस तेजस्वी चेहरे से दृष्टि टकराती है, वे हँसकर पीठ थपथपा, स्वयं ही मूक क्षमादान दे देती हैं। किले में आज विशेष गोठ, अर्थात् गोष्ठी है। राज परिवार की राज कन्या सुधाराजा और उनकी सखियाँ गोष्ठी में, अपना नाटक प्रस्तुत कर रही हैं--'लक्ष्मी का स्वागत'। कई परिचारिकाएँ, बारी-बारी से सोने-चाँदी के गंगा जमनी गिलासों में, सुवासित जल लाकर पात्रियों के सुकुमार कण्ठों को निरर्थक सिक्त कर रही हैं। आकर्षण का मुख्य केन्द्र बनी हैं राजकन्या, जिन्हें बुन्देलखण्डी में 'राजा', कहकर पुकारा जाता है। उनकी ताई, चाची अर्थात् सझली-मझली और छोटी रानी की भ्रमरावलि, उनके चारों ओर गुनगुना रही है, "हाय बारी जाऊँ, राजा को देखो, उनके चाँद से मुखड़े पर मूँछें कैसी फब रही हैं।"

'अरी कान बाई, कहाँ मर गई निगोड़ी, चून मिर्च की नजर उतार कर, चौबारे तो धर आ; उमर गुजर गई रजवाड़े में पर मुई किले की एक राहरस्म भी नहीं सीख पाई!' वृद्धा कानबाई, कानों से एक दम बहरी है, इसी से खीस निपोर देती है। उसकी गर्दन भरतनाट्यम करती दक्षिणी गुड़िया की भाँति सदा हिलती रहती है। पक्षाघात का एक झटका उसे यह विचित्र मुद्रा जीवन भर के लिए प्रदान कर गया है। वह सुधा राजा की मुँह लगी दासी है और बचपन से ही उसने उन्हें गोद में खिलाया है। लाड़ में पली उसकी राजा, जिनके गौर चरणयुगल पृथ्वी पर पड़ते ही वह, 'खम्भा-खम्भा' कर विह्वल हो उठती है, अचानक इस नाटक के अखाड़े में कूद पड़ी हैं, यह उसे नहीं भाता। उसका सारा आक्रोश मुझ पर है, मैंने ही इस नाटक का प्रस्ताव रखा था। दूसरी दासी बड़ी गम्भीर और सलीके वाली है। चपला राजा और उनकी सखियाँ, अजो बाई की स्पष्ट मूँछ और नन्हीं सी दाढ़ी का मजाक उड़ाती रहती हैं, पर वह निर्विकार भाव से परिहास का गरल, नील कण्ठी वन ग्रहण करती रहती हैं।

'क्योंरी अजोबाई, तुझे एक छोटा सा उस्तरा भेंट करदें या बुन्देलखण्डी दाढ़ी रखेगी वैसी 'देख ?' राजा को विशाल भित्ति चित्रों को दिखाती हैं, जहाँ बीच से दाढ़ी की माँग निकाल, जापानी पंखे की सी छिटकाए, राजवंश के अनेक बुन्देलखण्डी पूर्वज मुस्करा रहे हैं।

अजोबाई अपनी स्निग्ध हँसी से सबका मन मोह लेती है। 'आज तो अन्नदाता की भी मूँछें बनी हैं, आप ही बताएँ दाढ़ी-मूँछें रखूँ या उस्तरा!'

भौंह बनाने वाली पेंसिल से बनी नकली मूँछों की स्वामिनी अठारह वर्ष की सुन्दरी अन्नदाता, अपने मोती के से दाँत दिखाकर हँस देती है। गोठ रंग पकड़ रही हैं। दर्शकों का आना प्रारम्भ हो गया है। दरबार हाल खचाखच भर गया है। पन्ना से फुआजूं का आगमन इसी विशेष अवसर के उपलक्ष्य में हुआ है; उन्हें संगीत अभि-

नय में विशेष रुचि है, उनके पीछे-पीछे उनकी दासियों की चींटी की-सी लम्बी कतार चल रही है। दर्शक मण्डली अधीर हुई जा रही है। एक तो दर्शकों में केवल स्त्रियाँ हैं, इसी से कोलाहल बढ़ता जा रहा है। बीच-बीच में फुआजू रौबीले स्वर में सबको घुड़क देती हैं—चुप करो सब, बढ़िया तमाशा है 'बातें बन्द करो।' क्षण भर को हाल में सन्नाटा छा जाता है, पर आज तक कौन-सी शक्ति, सम्मिलित नारी कण्ठ का कल-कल निनाद रोक पाई है ? क्षण भर की चुप्पी, दुगुने वेग से बह निकलती है।

प्रसाधन कक्ष में किसी को आने की अनुमति नहीं है, फिर भी लुक-छिप कर वैसी ही तांक-झांक चल रही है जो प्रायः किसी भी नाटक के आरम्भ होने के पूर्व चला करती हैं। कभी एकाध नकली गलमुच्छे और कभी तलवार छाप मूँछ की सुई की-सी तीखी नोंक दिख जाती है। साथ ही, सँझली-मँझली और छोटी रानी हँसते-हँसते लोट-पोट हो जाती हैं—'हाय, हाय ! मरी लीलू को तो देखो, कोट-पैण्ट में एक दम डाक्टर कोठारी लग रही है।

नाटक आरम्भ होता है। समवेत नृत्य में सखियों से घिरी, किशनगढ़ शैली में राधिका के चित्र-सी लगती स्वयं राजा, राधिका वेश में प्रवेश करती हैं—पैरों में असली सोने के वे भारी घुँघरू छनक उठते हैं जिन्हें उसी दिन रनिवास के अँधेरे तहखाने से निकाल कर चमकाया गया था, जिन्हें शायद बुन्देला वीर वीरसिंह देव (प्रथम) की पटरानी के चरण स्पर्श का भी सौभाग्य प्राप्त रहा हो या जो शायद मधुकर शाह की सुन्दरी महारानी के चरण भी चूम चुके हैं।

विंग से आती गुलाबी रोशनी में, सुधा राजा का कमनीय चेहरा और भी कमनीय लग रहा है। नौसिखिए चरणों की भंगिमा, कभी ताल-लय से विलग हो जाती हैं; पर पूरी दर्शक मण्डली—बीन से सम्मोहित नाग सी झूम उठती है। फिर आरम्भ होता है नाटक। नृत्य से उत्तेजित दर्शक मण्डली की तालियों की गगन भेदी भड़भड़ाहट बन्द होने का नाम ही नहीं लेती तो फुआजू कमाण्डर की मुद्रा में गरज उठती हैं, 'घलै सबनकैं पट्रखा', और सम्भावित पट्रखा प्रहार के राजसी आदेश से सहमे दर्शक, अपना कलरव पुनः कण्ठ में खींच लेते हैं।

एक दृश्य में, मुख्य पात्र रोशन को मृत बालक को गोद में लिए स्टेज पर बिलखना है। आज तक प्रत्येक रिहर्सल में, उसका अपूर्ण अभिनय पूरे अन्तःपुर को कई बार रुला चुका है। पर आज उसकी तार से टिकाई गई नकली मूँछों की सुरसुरी से, एक अप्रत्याशित छींक सारा मजा किर-किरा कर देती है। छींक की मशीनगन से उसकी नकली मूँछें, चंचल तितली-सी उड़ती दर्शकों की गोद में गिर जाती है और वह वेहया, मृत बबुए को हिलाती, स्वयं भी ही-ही कर हँसने लगती है। पर सँझली, मँझली और छोटी रानी साहिबा पूर्व निर्धारित योजना को उसी गाँभीर्य से निभाती, बराबर सिसकियों का पार्श्व संगीत प्रस्तुत कर रही हैं।

नाटक का पर्दा गिरता है। एक बार फिर राजकन्या को मुग्ध दर्शक घेर लेते हैं। कानों की बहरी कानबाई को, फिर मिर्चें चून की नजर उतारने का आदेश मिलता है। पर उसके बहरे कान आदेश ग्रहण नहीं कर पाते, मासी बा, दुल्हैयाजू 'मोरला के पाँख कबूतर के पखना' आदि का टोना गाकर नजर उतारने का नया आदेश देती हैं—एक बार फिर दाढ़ी जार अगोबाई की अभागी मूँछों पर व्यंग की चांदमारी होती है—'क्योंरी अजो बाई। अगली बार नाटक खेला तो मुछन्दर पिता का पार्ट तुझे सौंपा जायगा, न मूँछें ही बनानी पड़ेंगीं न उनके छींक से उड़ने का ही डर रहेगा। अजोबाई भला कब चूकने वाली है, उसने भी रियासत का नमक खाया है, इसी से सरस्वती निरन्तर जिह्वा पर रहती है—'घणी खम्भा मारा घणी अन्न-दाता,' वह ठेठ काठियावाड़ी, मनमोहक मुद्रा में, दोनों हाथों से राजा की नजर का 'दुखड़ा' उतार अपनी कनपटी पर अँगुलियों की हड्डियाँ चरमराती है—आज तो धन्य भाग जो इन आँखों ने अन्नदाता के चन्द्रमुख पर बनी मूँछें देख लीं—अपनी इन अभागी मूँछों का सब दुःख भूल बिसर गई हूँ।'

और अठारह वर्ष की सुन्दरी अन्नदाता अपनी धुँधली पड़ गईं नकली मूँछों को क्षीण रेखा के नीचे खिंच गए लजीली मुस्कान के इन्द्र धनुष से उस अनूठे अन्तःपुर की अनोखी गोठ को धन्य कर देती हैं!

रियासतों के साथ-साथ, न जाने कितने ऐसे रंगीले अन्तःपुरों का अस्तित्व विलीन हो गया—रह गई है, क्षुधित पाषाण के—से घुँघरुओं की केवल माया-—मारीचिका—